अप्रैल-जून 2019

रंग संवाद

रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र
तथा वनमाली सृजन पीठ की संवाद पत्रिका

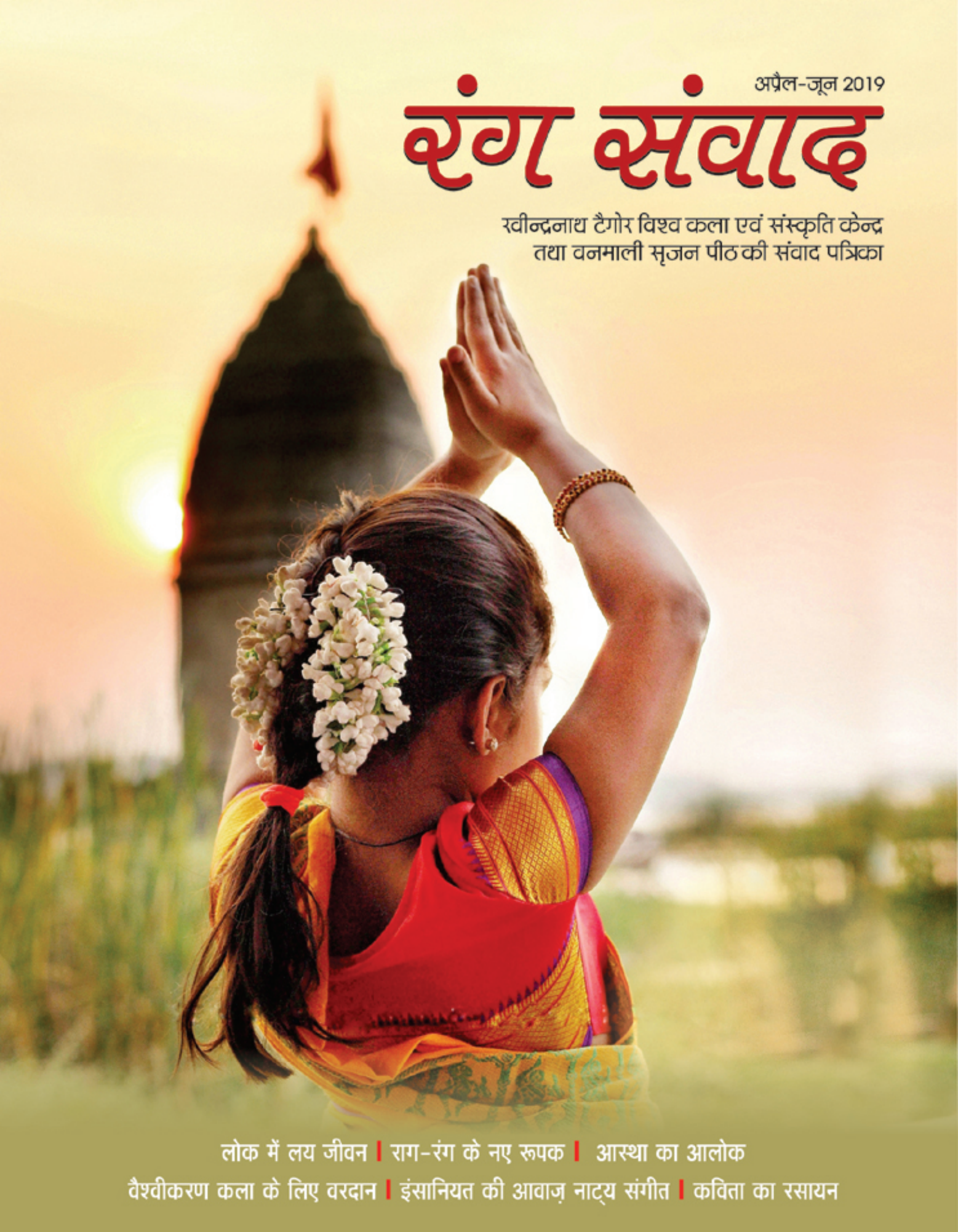

लोक में लय जीवन | राग-रंग के नए रूपक | आस्था का आलोक
वैश्वीकरण कला के लिए वरदान | इंसानियत की आवाज़ नाट्य संगीत | कविता का रसायन

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र

रबिन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल

शिक्षा तथा संस्कृति की परस्परता का रचनात्मक उपक्रम

अवधारणा, परिदृश्य और उद्देश्य

नई छात्र पीढ़ी में विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के साथ संस्कृति, कला तथा साहित्य के प्रति जिज्ञासा, अभिरूचि, सृजन और संस्कारशील व्यक्तित्व गढ़ने के उद्देश्य से रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वकला एवं संस्कृति केन्द्र की स्थापना की गई है।

अपनी सक्रियता के चलते इस केन्द्र ने अध्ययन, शोध और प्रदर्शनकारी गतिविधियों के माध्यम से विश्वविद्यालय में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं तथा विभिन्न विधाओं के अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सर्जकों और विशेषज्ञों के बीच नवोन्मेषी रचनात्मक परिवेश तैयार किया है।

यह केन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल, डॉ. सी. वी. रामन विश्वविद्यालय, बिलासपुर, खंडवा और पटना तथा आईसेक्ट विश्वविद्यालय हजारीबाग में समान रूप से संचालित है। भोपाल इसकी केन्द्रीय इकाई है।

विभिन्न ललित कलाओं, संस्कृति और साहित्य के विभिन्न पक्षों को अपनी गतिविधियों के दायरे में रखते हुए यह केन्द्र आंचलिक प्रस्तुतियों के अलावा शोध, विमर्श, संवाद, सृजन-शिविर, कार्यशालाओं, पुस्तक लोकार्पण, व्याख्यान, संपादन, अनुवाद और दस्तावेज़ीकरण की दिशाओं में सक्रिय है।

स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय महत्व के अनेक आयोजनों ने सकारात्मक परिवेश तैयार किया है। इस केन्द्र की सक्रियता को साहित्य, ललित कलाओं और रंगमंच की श्रेणियों में देखा जा सकता है।

अपनी प्रवृत्तियों और उद्देश्यों के साथ टैगोर विश्वकला एवं संस्कृति केन्द्र बहुलता की संस्कृति का आदर करते हुए सौहार्द और समन्वय की पुनर्स्थापना के लिए कृत संकल्प है।

संपर्क

भोपाल-चिकलोद रोड, बंगरसिया चौराहे के पास, भोपाल, फोन : 0755-6766100, 6766104, मो. 9826392428

ई-मेल : tagorekala9@gmail.com, vinay.srujan@gmail.com

रंग संवाद

अप्रैल–जून 2019

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र तथा

वनमाली सृजन पीठ, रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय की

संवाद पत्रिका

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

choubey@aisect.org

संपादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

शब्दांकन : **अमीन उद्दीन शेख़**

संपादकीय संपर्क:

22, E-7, अरेरा कॉलोनी,

भोपाल–462016

फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428

• • •

जरूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र तथा

वनमाली सृजन पीठ (रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय), भोपाल द्वारा प्रकाशित

ई–मेल : **tagorekala9@gmail.com**

मुद्रक : पहले पहल प्रिंटरी प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

इस बार

परंपरा

लोक में लय जीवन- श्रीराम परिहार /5

कला और साहित्य

आपसदारी के नए अर्थ–रमेश दवे/9

कला बोध

राग–रंग के रूपक- गोविंद कुमार 'गुंजन'/13

सृजन संवाद

नाटक में ही दिखाई देती है इंसान की असल तस्वीर

दयाप्रकाश सिन्हा से विनय उपाध्याय और प्रेमशंकर शुक्ल की वार्ता/17

हस्तक्षेप

नाटक ज़िंदा रहेगा, उत्तेजना भी देता रहेगा–गिरीश करनाड/31

आयाम

इंसानियत की आवाज़ है नाट्य संगीत–आलोक चटर्जी/33

प्रसंगवश

सिनेमा और रंगमंच: अलहदा भी, साथ भी- सुदीप सोहनी/ 39

समवेत के स्वर

डूबती–उतराती आवाज़ों का दिलचस्प कारवाँ–इलाशंकर गुहा/42

प्रणति

गुरूदेव के गीत, जोएल का पियानो/49

स्मृति शेष : प्रदीप चौबे

ठहाकों का उद्घोष और ग़ज़ल की संवेदना – संतोष चौबे/51

संस्मरण

वजिलों काहार बीना मधुर स्वरे

सुरम्य शख़्सियत: बलराम पाठक–रमाकांत श्रीवास्तव/55

अलहदा

वैश्वीकरण कला के लिए वरदान–पंकज स्वामी/63

धरोहर

स्मृतियों का बसेरा भवानी संग्रहालय–किशोर दिवसे /66

सुपाठ

आस्था का आलोक–सुनीता सिंह/68

दस्तावेज़

माँडणा: फ़लक पर विराट के रंग–अनिता सक्सेना/69

सृजन के आसपास/70

शेष–विशेष

मरने के पहले पैदा होना चाहता हूँ–विनय उपाध्याय/99

● **आवरण चित्र** : आदित्य उपाध्याय ● **आवरण आकल्पन** : वंदना श्रीवास्तव

● **भीतर के छायाचित्र** : उपेन्द्र पेंडसे, नीरज रिछारिया, रोहित श्रीवास्तव, सिरील, विजय रोहतगी, ताजनूर, अरूण जैन, प्रवीण दीक्षित

● **सहयोग** : मुकेश सेन, सुनीता सिंह, सुदीप सोहनी, हेमंत देवलेकर, संजय सिंह राठौर

Okuekyh l'tu ihB ,oa Okuekyh l'tu dæ

रचनात्मक सक्रियता का विस्तार

सुप्रतिष्ठित कथाकार, शिक्षाविद् तथा विचारक स्व. जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' के रचनात्मक योगदान और स्मृति को समर्पित वनमाली सृजन पीठ एक साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा रचनाधर्मी अनुष्ठान है, जो परंपरा तथा आधुनिक आग्रहों के बीच संवाद तैयार करने सतत् सक्रिय है। साहित्य तथा कलाओं की विभिन्न विधाओं में हो रही सर्जना को प्रस्तुत करने के साथ ही उसके प्रति लोकरुचि का सम्मानजनक परिवेश निर्मित करना भी पीठ की प्रवृत्तियों में शामिल है। इस आकांक्षा के चलते रचनाधर्मियों से संवाद और विमर्श के सत्रों के अलावा यह सृजन पीठ शोध, अन्वेषण, अध्ययन तथा लेखन के लिए नवोन्मुखी प्रयासों तथा सृजनशील प्रतिभाओं को चिन्हित करने और उन्हें अभिव्यक्ति के यथासंभव अवसर उपलब्ध कराने का काम भी करती है। बहुलता का आदर और समावेशी रचनात्मक आचरण हमारी गतिशीलता के अभीष्ट हैं।

संपादकीय

प्रारंभ में सृजनपीठ राष्ट्रीय वनमाली कथा सम्मान एवं रचना पाठ संगोष्ठियों तथा अंतर्विधायी कार्यक्रमों पर केंद्रित रही लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इसने अपनी गतिविधियों का दायरा काफी बढ़ाया है और अपनी सक्रियता के आधार बिंदुओ में बड़ा इज़ाफा किया है। भोपाल के साथ–साथ वनमाली सृजन पीठ अब बिलासपुर, खंडवा एवं नई दिल्ली में भी स्थापित की गई हैं जिन्होंने इन क्षेत्रों में सांस्कृतिक सक्रियता का और विस्तार किया है। अब स्थानीय स्तर पर 1000 सृजन केन्द्रों की स्थापना के साथ गतिविधियों की गहराई और विस्तार दोनों ही बढ़ाने का लक्ष्य हाथ में लिया गया है जिसमें से 100 से अधिक सृजन केन्द्र सक्रिय भी किये जा चुके हैं।

इस बीच पिछली शताब्दी की ढलान एवं नई शताब्दी के आगमन के लगभग 30 वर्षों की कथा प्रवृत्तियों पर केंद्रित "आख्यान का आंतरिक संकट" एवं "कहानी स्वप्न और यथार्थ" जैसी दो महत्वपूर्ण पुस्तकों तथा अविभाजित मध्यप्रदेश के 200 से अधिक कथाकारों को समेटते हुए पिछले 100 वर्षों के हिन्दी कथा संसार का लेखा–जोखा भी छः वृहद् खंडों में 'कथा मध्यप्रदेश' के नाम से सृजन पीठ द्वारा प्रकाशित किया गया है। वर्ष 2017 में कथा मध्यप्रदेश के भारत भवन में हुये लोकार्पण समारोह में देशभर से करीब 400 कथाकारों ने हिस्सा लिया और तीन दिन तक चले इस कार्यक्रम को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। इसी को आगे बढ़ाते हुये अब 12 खंडों में 'कथादेश' परियोजना का कार्य हाथ में लिया गया है जिसमें 600 से अधिक कथाकार तथा आलोचक शामिल किये जा रहे हैं। अगले चरण में 'कथा विश्व' की भी योजना है। विज्ञान कथाओं पर अलग से काम किया जा रहा है।

इस बीच सृजन पीठ से जुड़े रचनाकारों ने बड़ी शिद्दत से महसूस किया कि आधुनिकता के तमाम सतही और तात्कालिक आग्रहों के साथ प्रेरणा देने वाला साहित्य और जीवन को विश्राम देने वाली संस्कृति से एक किस्म का सामाजिक अलगाव होता जा रहा है। राजधानी और महानगर ही नहीं, छोटे शहर और कस्बे भी इस अनपेक्षित विसंगति के शिकार हुए हैं। सृजन केन्द्रों की स्थापना और उनकी रचनात्मक सक्रियता इस संक्रमित माहौल को नयी सकारात्मक ऊर्जा देने की पहल है। इसके लिए एक विशिष्ट सांगठनिक स्वरूप को परिकल्पित किया गया है। इसका सबसे पहला आधार ये है कि सृजन केंद्रों के संचालन एवं इनसे संवाद का दायित्व आईसेक्ट द्वारा स्थापित निजी विश्वविद्यालयों जैसे रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, डॉ. सी.वी. रामन् विश्वविद्यालय तथा आईसेक्ट विश्वविद्यालय को सौंपा जाये जिससे उनमें स्थायित्व आये और इनमें सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ–साथ शोध तथा दस्तावेजीकरण को भी बढ़ावा दिया जा सके। सृजन पीठों के अध्यक्ष इन सृजन केंद्रों की स्थापना तथा संचालन का कार्य देख रहे हैं। प्रत्येक सृजन पीठ में एक छोटी समन्वय समिति कार्य कर रही है। सृजन पीठ की तरह प्रत्येक सृजन केंद्र पर भी एक अध्यक्ष तथा संयोजक एवं छोटी समन्वय समिति

का गठन किया गया है जिन्होंने काम करना भी शुरू कर दिया है। वनमाली सृजन केन्द्रों का पहला सम्मेलन 1 मार्च 2019 को रवींद्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय में संपन्न हुआ जिसमें 110 से अधिक केन्द्रों ने हिस्सा लिया।

वनमाली सृजन केंद्रों पर की जाने वाली कुछ गतिविधियाँ इस प्रकार हैं :

- चयनित किताबें प्रत्येक सृजन केन्द्र में भेजी जा रही हैं।
- प्रत्येक इकाई पाठक मंच की तरह काम करेगी और साल में चार संगोष्ठियों (त्रैमासिक गोष्ठियों) का आयोजन करेगी।
- गोष्ठियों के आयोजन खर्च के रूप में इकाईयों को कुछ सहायता भी दी जा रही है।
- संगोष्ठी से जुड़े समाचार–चित्र, रंग संवाद तथा पहले–पहल में प्रमुखता से प्रकाशित किए जाएंगे।
- विश्वविद्यालय में स्थापित स्टूडियो द्वारा कलाओं के विविध आयामों से जुड़ी हस्तियों से साक्षात्कार की श्रृंखला चलाई जायेगी।
- लोक–समूह, वंदगान एवं अन्य साहित्य तथा कला प्रस्तुतियों की रिकार्डिंग भी की जाएगी। इसका लक्ष्य स्थानीय सांस्कृतिक स्रोतों का डाक्युमेंटेशन करना भी है।
- नाट्य तथा संगीत कार्य शालाओं का आयोजन एवं प्रस्तुतियाँसतत रूप से आयोजित की जायेंगी।
- दस पत्रिकाएं सभी इकाईयों को पोस्ट से भेजी जायेंगी। इनमें विश्वविद्यालयों के सहयोगी प्रकाशन रंग संवाद, पहले पहल, इलेक्ट्रॉनिकी, शोधायतन तथा अन्य चयनित पत्रिकाएं शामिल होंगी।
- स्पिक मैके, वर्धा विश्वविद्यालय, सीबीटी एवं एनबीटी की गतिविधियों को सृजन केंद्रों तक विस्तारित किया जाएगा।
- सृजन केंद्रों के माध्यम से शोध तथा डाक्यूमेंटेशन को बढ़ावा दिया जायेगा।
- नियमित पुस्तक यात्रा का आयोजन किया जायेगा।
- हिन्दी पत्रिकाओं की ई–लायब्रेरी का फ्री पोर्टल बनाया जाएगा। इस पोर्टल में लगभग 4000 पत्रिकाएं सब्सक्राइबर के लिए उपलब्ध होंगी।
- बच्चों एवं युवाओं पर केन्द्रित गतिविधियों को बढ़ावा दिया जाएगा।
- एक डायरेक्ट्री जिसमें साहित्य कला, पीठ व केन्द्र से संबंधित लोगों की पूर्ण जानकारी, संपर्क इत्यादि समाहित हो, बनाई जाएगी।
- कुल मिलाकर पुस्तक संस्कृति का विस्तार, युवाओं से संवाद में बढ़ोतरी और एक समावेशी सांस्कृतिक वातावरण तैयार करना सृजन केंद्रों का लक्ष्य होगा।

इस अंक में वनमाली सृजन पीठ तथा सृजन केंद्रों से संबंधित विस्तृत समाचार जा रहे हैं। राष्ट्रीय सम्मेलन के बाद अधिकतर केंद्रों ने सक्रियता बढ़ाई है जो स्वागत योग्य है। इस अंक में रंग संगीत एवं लोक संगीत पर महत्वपूर्ण आलेख हैं और प्रख्यात नाट्य निर्देशक दयाप्रकाश सिन्हा से विनय उपाध्याय तथा प्रेमशंकर शुक्ल की बातचीत भी।

आपकी प्रतिक्रिया का इंतज़ार रहेगा।

लोक में लय जीवन

श्रीराम परिहार

संवेदना की आँखें खुलती हैं, तो सारा संसार अपना लगने लगता है। करुणा रोती है, तो लोक-मंगल की अभिलाषा पुष्ट होती है। उल्लास हृदय में अट नहीं पाता, तो कंठ से राग फूटता है। लोक उसी गीत-नदी के तट पर अहोरात्र कर्मरत रहता है। मानुष भाव की सुवास फैलती है। मनुष्य महान बन जाता है। उसकी वाणी लोक की वाणी बन जाती है।

धन्य है ईश्वर, जिसने धरती-आकाश सिरजा। तीन लोक, चौदह भुवन और पाताल बनाये। प्रकृति को रचा। मनुष्य जन्मा। मनुष्य की दृष्टि को विस्तार दिया। हृदय दिया। हृदय को भावनाओं से भर दिया। मस्तिष्क दिया। बुद्धि दी। साथ में विवेक दिया। विचारों का ताना-बाना दिया। सोच-समझ दी। हास-रूदन दिया। आलोक से जगमगाती संवेदना दी। संवेदना की संगिनी करुणा दी। वाणी को गान दिया। गान राग से, रस से, प्राणों से भर गया। यह वाक का वासंती उत्सव था। दृष्टि जहाँ तक पहुँची, लोक को उसकी पूरी सुन्दरता के साथ नयनों की डिबिया में बंद कर लिया। मनुष्य ने अपने मानुष भाव का प्रकृति के साहचर्य में विस्तार किया और भावों के आकाश के नीचे मनुष्य ने व्यक्ति, समाज, देश, अंतरिक्ष, पाताल, पशु, पक्षी, लता, तरु, तृण, वन, पर्वत, नदी, नद, सर, सरिता, सूर्य, चन्द्र, बूँद, समुद्र, बादल, बिजली सबको बुलाकर उनसे आत्मीय संवाद करने लगा। वह विशिष्ट से सामान्य बन गया। वह सबमें घुल गया। वह मनुष्य से लोक बन गया। उसके गान लोकप्रिय हो गये। उसका कहा लोक साहित्य बन गया। लोक साहित्य के सरोकार ब्रह्माण्ड के ओर-छोर तक व्याप्त हो गये। मनुष्य ने धरती पर नंगे पाँव चलते हुए अनुभव किया कि यह भूमि बहुत पुण्यमयी और रसवंती है। इसका पृथ्वीलोक बहुत सुन्दर है। कोलाहलों से भरा होने पर भी बीच-बीच में कलरव सुनाई दे जाता है। घुप्प अँधेरे का माथा चूमता हुआ चन्द्रमा झकझकाट हो जाता है। आकाश की कंदरा से निकलकर

सूरज चमचमाता है। सुख-दु:ख दोनों यहाँ साथ खेलते हैं। मनुष्य ने अपनी समझ से पाया कि पसीना टपकता है, तो कर्म गौरव पाता है। पाँव चलते हैं, तो दिशाओं की दूरियाँ कम हो जाती हैं। संवेदना की पाँखें खुलती हैं, तो सारा संसार अपना लगने लगता है। करुणा रोती है, तो लोक-मंगल की अभिलाषा पुष्ट होती है। उल्लास हृदय में अट नहीं पाता, तो कंठ से राग फूटता है। लोक उसी गीत-नदी के तट पर अहोरात्र कर्मरत रहता है।

वृक्ष का दान, नदी के उपकार, धरती की ममता और सहनशीलता, सूरज का ताप, चन्द्रमा की शीतलता, पक्षियों का साहचर्य, पशुओं की स्वामी-शक्ति, बादलों का बरसकर मिट जाना, हवा का प्राण-प्राण में बहना, अग्नि का ताप और प्रकाश और आकाश का रोज़ रात को मोतियों भरा थाल लेकर जगमगाना लोक-मानस में कौतुहल और आस्था पैदा करते रहे हैं।

मानुष भाव की सुवास फैलती है। मनुष्य महान बन जाता है। उसकी वाणी लोक की वाणी बन जाती है। मानुष भाव से पूरित अनेक-अनेक मनुष्य लोक की रचना इकाई से दहाई, सैकड़ा, हज़ार बनते चले जाते हैं। लोक की चौपाल पर सब बैठ जाते हैं- प्राचीन, नवीन, ग्रामीण, नगर, प्राकृत-संस्कृत सब कुछ, सभी कुछ। लोक की सीमा असीम है। लोक साहित्य अपरिचित है।

भूमि की पावनता, सहनशीलता और सृजनशीलता से मनुष्य सर्वाधिक प्रभावित हुआ। भूमि के अखिल विस्तार को देखकर वह चमत्कृत हुआ।

कभी विस्मय से, कभी उल्लास से, कभी करुणा से पूरित, उमंगित और विगलित होकर, मनुष्य ने भाव और विवेक की वेदी पर खड़े होकर, जो सहज शब्द-मंत्र उच्चरित किये, वह लोक के समूह-ज्ञान और समाज-संस्कृति के साहित्य-अध्याय बन गये।

इस प्रकार पृथ्वी का निसर्ग, मनुष्य का मानुष भाव और मनुष्य का ज्ञान के त्रिकोण के पालने में लोक-साहित्य ने आँखें खोली हैं। मानुष भाव और ज्ञान के द्वारा मनुष्य ने अपनी अनुभव की गठरी को भरा और भरता ही रहा, हज़ारों वर्षों तक। भूलोक के सारे, प्रत्यक्ष दृश्य और उनसे मनुष्य का व्यवहार और सम्बन्ध उसे ज्ञान की नयी-नयी गलियों में बिरमाते रहे।

भूलोक के साथ ही वह अपने सिर पर छतरी जैसे फैले आकाश के नीचे आश्चर्य और अनुमान से आतुर होकर बैठ गया। भूलोक पर बैठे-बैठे वह अनुभव और ज्ञान के पंखों से अंतरिक्ष लोक और कल्पना शक्ति का सहारा लेकर भूलोक तक पहुँच गया। उसकी भाव-विवेक यात्रा असीम विस्तार पा गयी। इस भाव-विवेक सम्मत यात्रा का वर्णन ही लोक-साहित्य है। लोक-साहित्य के सरोकार मंगल-विधायक हैं।

भारतीय लोक और शास्त्र दोनों ही इस विश्वास से अटल हैं कि भूमा का यह मधुमय दान पराप्रकृति की कृपा और इच्छा का परिणाम है। एक जिज्ञासा दोनों में पलती रही कि वह कौन है, जिसने अखिल ब्रह्माण्ड की रचना की। वह प्रकृति नहीं है, प्रकृति से भी परे की ज्योति है। उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं। वही सबमें स्फुरित और रूपायित होता है।

यही सब में छिटका है। समाया है। बोलता है। उसी की शक्ति के विद्युतकण सब में भासमान है। अत: पुन: एक चित्र उभरता है। सृष्टा, सृष्टि और मनुष्य का चित्र। यह भारतीय लोक और शास्त्र के नाभिकुण्ड में अमीय रस जैसा भरा हुआ है। लोक बार-बार अपनी वाणी में उस अलख को लखने की हुमस लिये कातर पुकार लगाता है। सृष्टि को प्रभु के वरदान के रूप में स्वीकार कर उसके प्रति उदार और कृतज्ञ भाव से भरा-भरा रहता है।

अपने हृदय, विवेक और वाणी के त्रितत्वों से लोकवाणी का क्षीरसागर रचता है। यह सागर जब से भरा है, भरा ही हुआ है। क्योंकि इसकी परिमिति नहीं है। लोकानुभव, लोकविश्वास, लोकपरम्परा और लोकानुष्ठान की नदियाँ इसे अपनी शब्द-शब्द धाराओं से भाव-जल पूरित करती रहती हैं।

लोकधर्म कोई आकाशीय चिन्तन की गलियों में भटकने वाला मानसिक अनुष्ठान नहीं है। यह दृष्य जगत या जहाँ तक दृष्टिपथ का विस्तार भौतिक और प्रज्ञा चक्षुओं के माध्यम से लोक में होता है, उसकी वस्तुओं से व्यावहारिक धरातल पर स्थापित संबंध आस्था को जन्म देते हैं। सृष्टि की वस्तुओं की दानशीलता, त्याग और परकारज जीवन जीने की वृत्ति के कारण लोक के मन में उनके प्रति आस्था और श्रद्धा उपजती है और लोक उन्हें देवता के रूप में ही नहीं, बल्कि उनके दान के प्रतिदान में अपनी आस्था प्रकट करना अपना धर्म मानता है।

वृक्ष का दान, नदी के उपकार, धरती की ममता और सहनशीलता, सूरज का ताप, चन्द्रमा की शीतलता, पक्षियों का साहचर्य, पशुओं की स्वामी-शक्ति, बादलों का बरसकर मिट जाना, हवा का प्राण-प्राण में बहना, अग्नि का ताप और प्रकाश और आकाश का रोज़ रात को मोतियों भरा थाल लेकर जगमगाना लोक-मानस में कौतुहल और आस्था पैदा करते रहे हैं। पंच महाभूतों से रचित सृष्टि और मनुष्य एक महाकुटुम्ब के सदस्य हैं। पंचतत्व निर्विकार भाव से अपना धर्म संपादित करते आ रहे हैं। लोक ने उन्हीं पंचमहाभूतों की अभ्यर्थना में अपनी आस्थामय लोकवाणी स्फुरित की। वह लोक साहित्य की अमूल्य निधि है। वाचिक परम्परा जिसका मूलाधार है।

वैदिक ऋषि की वाणी भूमि को माता कहती है। नदियों से सदानीरा बनी रहकर अमृतमय जल देते रहने की प्रार्थना करती है। वानस्पतिक संसार से तृण, दूर्वा, शस्य प्रदान करने का निवेदन करती है, ताकि उनकी गायों के थनों में दूध भरा रहे, जिन्हें पीकर बछड़े पुष्ट हों। ये बड़े होकर बैल बने, जिनसे सम्पन्न कृषि की जा सके। उषा से अरुणोदय की अभ्यर्थना करती है, यह सृष्टि प्रकाश-पूरित हो अपना कर्मपथ प्रशस्त करती चले। वृक्षों के फलदार होने और लताओं के पुष्पमय होने की कामना करती है। प्राणियों में सद्भाव के स्थापन्न की इच्छा करती है। वह ऋषिवाणी सनातन धर्म की जय की अभिलाषा करती है। ऋषि की सनातन प्रार्थना-वाणी वेदों की तथा शास्त्रों की सनातन नीति बन जाती है। सम्पूर्ण सृष्टि में अपरम्पार की उपस्थिति को अनुभव करती है। सृष्टि के संचालन में मनुष्य के सुकर्म को रेखांकित करती है। ऋषि की यह पावनवाणी सृष्टि के महाकाव्य की व्याख्या करती है। उद्घोष करती है- 'आत्मवत् सर्वभूतेषु।' यह शब्दानुष्ठान श्रुति परम्परा का निर्माणक रहा है।

मानुष भाव का सहज प्रसार, सर्वहित का रक्षण और कर्म का प्रतिपादन ये तीनों ही बिन्दु वेद शास्त्र और लोक परम्परा दोनों के चिन्तन और व्यवहार में हैं। इसलिए कहीं भी और कभी भी लोक-सम्मत सनातन भारतीय जीवन पद्धति में शास्त्र और लोक के मध्य टकराहट पैदा नहीं हो पायी। टकराहट का मार्ग भारत का रहा नहीं। यहाँ सर्व समावेशी प्रकृति दूसरे विरूप को भी अपने रूप-स्वरूप में ढालती रही है। लोक पहले आया या वेद तथा शास्त्र ने पहले अपने जीवन मूल्य प्रतिपादित किये, यह महाकाल के मुख विवर में स्थित रहस्य है।

आचार्य नरेन्द्र देव कहते हैं कि संस्कृति लोकचित्त की खेती है। खेती करने का उपक्रम भी बड़ी भूमिका निभाता है। लोक-साहित्य वह उपक्रम ही है, जिसमें लोकचित्त सम्पूर्ण चराचर तक फैलाकर संस्कृति की खेती को सुफल बनाता है। इस प्रकार संस्कृति व्यापक धर्म है और साहित्य उसका पूरक और अनुरक्षणीय आवश्यक प्रभाग है। लोकचित्त जिस गौ-भूमि पर अपने पग धरता है, वह धर्म से अनवच्छिन्न रूप से जुड़ी होती है। धर्म लोकचित्त के ध्यान में सदैव रहता है। धर्म सत्कर्म में ही अपना अभीप्सित पाता रहता है। स्पष्ट है कि सर्वभूत हित रत किया गया कर्म ही धर्म है और यही धर्म लोकचित की मानस भूमि रचता है। सनातन लोक के प्रत्येक कर्म में हित-अनहित का विवेक निर्णय करता चलता है। इसीलिए भारतीय लोक और भारतीय शास्त्र दोनों के प्रकाश-बिन्दु लोकमंगल की ही खोज और साधना में अक्षुण्ण-प्रदीप्त हैं। लोकधर्म ने समाज को अन्तः अनुशासित और शुद्ध-स्वच्छ रखने में सहज-तरल ढंग से प्रभावित और प्रेरित किया है।

> लोक बार-बार अपनी वाणी में उस अलख को लखने की हुमस लिये कातर पुकार लगाता है। सृष्टि को प्रभु के वरदान के रूप में स्वीकार कर उसके प्रति उदार और कृतज्ञ भाव से भरा-भरा रहता है।

लेकिन कहा यह गया है- लोके-च वेदे-च। जो लोक में है, वह वेद में है। लोक और वेद में कहीं विरोध नहीं है। हमारे ऋषियों और पुरखों ने एक सनातन सूत्र भारतीय लोक-जन को दिया हैं जहाँ कहीं रीति, अनुष्ठान, विश्वास, परम्परा, अभिप्राय, अनुसार कार्य करने में संभ्रम पैदा हो, या विपरीतता अनुभव हो, वहाँ लोकमत को प्रमाण मानकर कार्य सम्पन्न कर लेना चाहिए। लोकमत पहले, शास्त्रमत बाद में। यह लोक की कर्म के साथ घनघोर निष्ठा और ततजन्य प्राप्त निष्कर्षों से सम्पन्न अनुभव के कारण ही मान्य किया गया है। भारतीय सनातन लोकजीवन में इसीलिए लोक और शास्त्र दोनों का महत्व उसी तरह है, जिस तरह अन्तरिक्ष में सूर्य-चन्द्र और देहलोक में दोनों नेत्रों का है। दोनों एक साथ एक समान एक लोकमंगल भाव लेकर प्रत्येक लोक-अनुष्ठान और लोककर्म में अपनी सनातन अनुभवता के साथ प्रेरक और संवाहक बनकर बैठे हैं।

लोक सम्पूर्ण सृष्टि-दृष्टि और जीवन-दृष्टि का धारक है। मानुष भाव की अपरिमित प्रसारता के कारण ही लोक ने सृष्टि के प्रत्येक लोक, लोक के प्रत्येक सदस्य, सदस्यों के प्रत्येक अनुष्ठान में कार्यों की सहभागिता, सहभागिता से रागभाव का गौरव, रागभाव के गौरव से लोकरस की प्राप्ति और लोकरस से लोकप्राण का वेगवान होकर ऊर्ध्व यात्री बनने की पुण्य-प्रक्रिया को आमंत्रण भेजा है, भेज रहा है, भेजते रहना चाहिए। लोक इसीलिए अपने पुण्य-पर्वों में धरती, आकाश, वायु, जल, अग्नि को प्रथमतः अलग-अलग घड़ियों में पूजता है। उनका आह्वान करता है। इसी तरह समाज के प्रत्येक वर्ग की सहभागिता उनके कर्मों या उनके द्वारा गढ़ी गयी वस्तुओं की उपस्थिति से ही लोक अनुष्ठान को पूर्ण करती है। प्रत्येक घर-गाँव का लोक-देवता किसी तीर्थ या देवालय स्थित देव के समान ही लोकमन की आराधना का आराध्य है। वहीं लोक-देवता लोक के घर-गृहस्थी-दुनियादारी से निपजे सुख-दुःख का प्रत्यक्षदर्शी, सुखदाता, दुःखकर्ता और मंगलकर्ता है। सारे अनुष्ठानों में पावनता गोबर लिपी धरती पर ही आमंत्रित होती है। गाय का गोबर, गाय का दूध, गाय के दूध का दही, दही का घी, खेत से उपजा अन्न लोक संस्कृति के कदली खम्भ हैं। गाय माता इसी महत्ता से लोक-जीवन और लोक-संस्कृति की पोषक है। एक सम्पूर्ण सृष्टि-बोध और जीवन-बोध लोक के पास है। वही उसकी संस्कृति में अनुष्ठान बनकर अहोरात्र सम्पन्न हो रहा है। वही लोक-साहित्य बनकर कण्ठ-कण्ठ से बोल रहा है। गा रहा है। आम की डाल पर कोयल बोल रही है। पलाश की डाल पर वसंत उतरने लगा है। पिता के आँगन से बेटी विदा होकर अपने प्रियतम के घर जा रही है। लोक का कण्ठ गीला हो गया है।

साहित्य में हम क्या रचते हैं? क्या हम जैसा एक और मनुष्य? हमारे जैसा एक और जीवन? हमारा अपना विचार? चराचर का सौन्दर्य और उसके प्रति संवेदन? आखिर क्यों कहते हैं हम यह यथार्थ है, यह द्वंद्व है, यह कला है या यह हमारे विचारों की या अनुभव की अभिव्यक्ति है। मनुष्य के पास भाषा है, भाषा में निहित शब्द हैं, शब्द के अर्थ और अर्थ-शक्ति या अर्थ-वैविध्य एवं वैभव हैं और शब्द में ही जीवन है।

के खीन्द्र

आपसदारी के नए अर्थ

रमेश दवे

शब्द में निहित इस जीवन को ही तो एक साहित्यकार पकड़ता है, उसी में सुख-दुख, संवेदन, सौन्दर्य, विचार और जीवन की अनुभूति कर साहित्य की रचना करता है। साहित्य में सहित-भाव ही होता है, अहित-भाव नहीं। जब एक सर्जक समूची सृष्टि के साथ सहित होता है तो सृष्टि-दर्शन दो प्रकार से करता है। एक तो हमारे एन्द्रिय-संवेदन से और दूसरे अपनी आंतरिक प्रज्ञा से। बाह्य सर्जक के अवलोकन, प्रत्यक्ष-दर्शन, साक्षात्कार का मूर्त्त रूप है, अन्तर उसकी अनुभूति, उसके विचार, उसकी सृष्टि-दृष्टि या जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति बनकर व्यक्त होता है और जो बाहय-आंतरिक के सामंजस्य से रचना में आकार लेता है वह साहित्य हो जाता है।

साहित्य भाषा की प्राणशक्ति है। भाषा अपने भौतिक-रूप में वस्तु है जिसे थिंग-लेंग्विज कहा जाता है और अपनी अदृश्य कल्पना या विचार में थिंक-लेंग्विज है। वस्तु और विचार से जिस नए रूप की सर्जना होती है, वह भाषा को साहित्य बनाती है। तात्पर्य यह कि भाषा एक भौतिक तत्व है, साहित्य उसे अधिभौतिक या कलात्मक रूप देता है। जिस कौम के पास भाषा है, उसके पास साहित्य भी है, फिर चाहे वह वाचिक हो या लिपि-बद्ध। लिपि आकार है, साहित्य विचार। लिपि जरूरी नही कि साहित्य के लिए ही हो, वह जीवन-सम्बद्ध हर कर्म के लिए है और जब कर्म सौन्दर्य और संवेदन बन जाता है, तो लिपि साहित्य में साकार उठती है। इसलिए लिपि एक साकार-माध्यम है और उसमें ही निहित हैं अनेक निराकार संभावनाएँ।

हम कितने भी प्रगतिशील और यथार्थवादी हो जाएँ, साहित्य अंततः है तो हमारे रागात्मक भाव की ही उत्पत्ति। राग को कई बार भाव के ही पर्याय में लिया जाता है, लेकिन राग में निहित है हमारा कला-बोध और यह कला-बोध हमारी लोक-कलाओं से लेकर उत्कृष्ट साहित्य रचना तक व्याप्त होता है। यदि किसी लेखक का मन किसी वस्तु को देखकर केवल उसमें वस्तु-तत्व देख कर उसके गुण-दोष बखान करता है तो वह फिर लेखक न होकर एक प्रकार का भौतिक रिपोर्टर है, मगर एक सर्जनात्मक और कल्पनाशील लेखक नहीं हो सकता। यदि कालिदास के आषाढ़ के मेघ केवल मेघ हैं और उनमें किन्हीं उन्मत्त हाथियों के समूह के विचरण की कल्पना नहीं है, बिम्ब या कोई अन्य रूपक नहीं है तो फिर कालिदास और एक मौसम-विज्ञानी में फ़र्क ही क्या हुआ?

साहित्य ऐसा भी नहीं कि जीवन से असंपृक्त या जीवन के प्रति निस्पृह हो, वह तो जीवन-व्यापी ही होता है फिर चाहे उसमें कोई कलावाद देखे, यथार्थवाद देखे, समाजवाद देखे या व्यक्तिवाद देखे। बिना कलात्मक मानस के श्रेष्ठ साहित्य की रचना हो नहीं सकती बल्कि कलात्मक-मानस के बिना तो संगीत, नृत्य, पेंटिंग एवं अन्य कला-रूप भी संभव नहीं हैं। उदाहरण के लिए बिरजू महाराज को लें-वे सामान्य मनुष्य की तरह ही मनुष्य हैं, लेकिन जब वे एक नृत्यकार की भूमिका में नृत्य-वेशभूषा, घुंघरू आदि सज्जा से युक्त मंच पर आते हैं तो लोग बिरजू महाराज व्यक्ति को नहीं देखते, वे देखते हैं एक नर्तक को और उसमें निहित कला के नाना रूपों, मुद्राओं, अंग-संचालन और भावों को और इस कला में समाहित होते हैं वे कलाकार जो वाद्यों और कण्ठ से बिरजू महाराज को व्यक्ति के सामान्य रूप से मुक्त कर कलारूप में रूपांतरित कर देते हैं। इस प्रकार कला दो रूप धारण करती है एक आनंद रूप जो कल्पना से उद्भूत है और जो दर्शकों का जीवन-रूप भी है अपने सम्पूर्ण जीवन समय को कला-समय से जोड़ता है। साहित्य तो और भी आगे जाता है,उसके पास भौतिक वेशभूषा या संगीत, नृत्य के साधन नहीं होते, वह तो शब्द में झंकृत होता है, शब्द ही उसका आनंद है।

साहित्य के समक्ष व्यक्ति नहीं होता-कल्पना होती है जो अदृश्य है, शब्द होता है जो दृश्य है लेकिन उसका अर्थ अदृश्य है, रचना होती है जो पढ़ी या सुनी जा सकती है, लेकिन उसका भाव अदृश्य है। यह अदृश्य ही हमें हँसाता है, रूलाता है, उदास करता है, आनंदित करता है। प्रेमचंद की कहानी 'क़फ़न' पढ़ते हुए हम किसी कलाकार की कल्पना तो नहीं करते बल्कि ग़रीब, शोषित, उत्पीड़ित, दलित व्यक्ति और उसके परिवार के बीमारी और मृत्यु से युक्त यथार्थ को घटित होते देखते है लेकिन इस यथार्थ में निहित जिस करुणा को, क़फ़न के पैसों से घीसू-माधव के पीने खाने की घोर विडम्बना को, दुख को और पेट भर मनपसंद खाने के आनंद को देखते हैं, तो इस करुणा और आनंद को किसने रचा, यथार्थ को इस मानवीय उत्कर्ष तक किसने पहुँचाया? प्रेमचंद की कलात्मक सृष्टि ने ही तो जिसमें यथार्थ दृश्य था मगर करुणा, आनंद और विडम्बना अदृश्य थे। एक बड़े कवि कथाकार की प्रतिभा तो इसी में है कि वह यथार्थ की भी ऐसी भाव-छवि रच दे कि भाव मुख्य हो जाए, व्यक्ति अदृश्य हो जाए। यह तो साहित्य के जीवन-सम्बद्ध कला होने का प्रमाण है।

हम जब किसी पेंटिंग को देखते हैं तो हमें लगता है कि उस पेंटिंग के अन्दर कोई कविता या कहानी है, कोई नाटक या गीत है और कई बार तो कई लेखक उस पर एक पूरा निबंध ही लिख देते हैं। कला के अन्दर से जिस प्रकार साहित्य के प्रकट होने की अदृश्य संभावना है, उसे एक सर्जक ही देख पाता है। कलाकार के मन में अपने अन्दर की आँखों से झांकने वाला साहित्यकार जब पेंटिंग पर लिखता है तो लगता है कि पेंटिंग और साहित्य एकाकार हो गए हैं। दूसरा प्रमाण है- खजुराहो, कोणार्क, अजंता-ऐलोरा एवं अनेक मंदिरों के स्थापत्य और ताजमहल को जिन्हें देखकर देश की हर भाषा में न केवल साहित्य रचा गया है बल्कि साहित्यकार और साहित्य ने मिलकर उन कला-स्मृतियों को अमर कर दिया है। भीमबैठका के आदिम भित्ति चित्र देखकर लगता है जैसे वे चित्र भित्ति पर लिखी कविता या कहानी हों। जब कलाएँ साहित्य बनती हैं तो साहित्य भी कला में रूपांतरित हो जाता है और साहित्य से पाठक के मन में जो कलात्मक अनुभूति होती है उससे वह रचना को कला में पढ़ने लगता है, जैसे महाराज कुमार डॉक्टर रघुवीर सिंह जी के ललित एवं ऐतिहासिक निबंध जो उन्होंने 'ताज' और 'फ़तहपुर सीकरी' को लेकर लिखे थे। ललित निबंधों में कई बार कलाओं को लेकर हमारे मूर्घन्य साहित्यकारों ने कलात्मक रचनाएँ रची हैं।

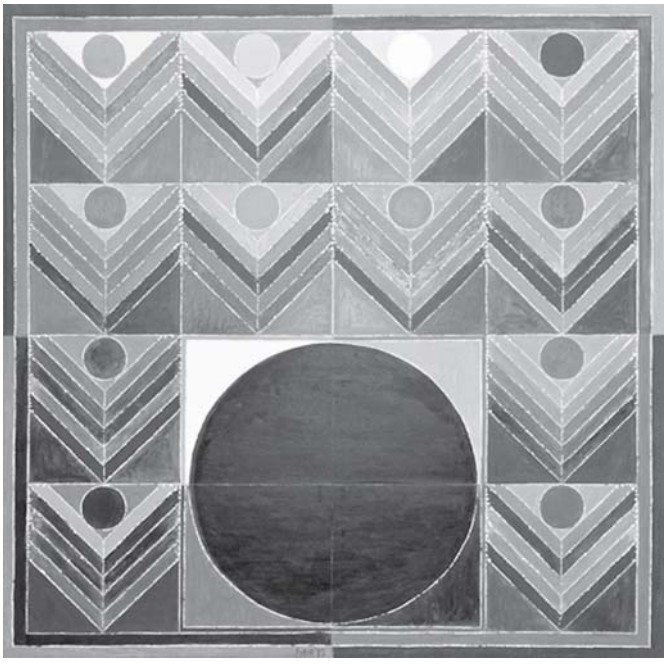

रज़ा

साहित्य हमारी समूची प्रज्ञा को संवेदित करता है। वह पीड़ा को उत्सव भी बना देता है और उदासी या आनंद भी। जो साहित्य में विरेचन या केथारसिस का सिद्धान्त है, वह आख़िर क्या है? यह लेखक के मर्म और संवेदना का प्रतिफल है जो पाठक को भी संवेदित करता है। साहित्य को कलावादी, आदर्शवादी, यथार्थवादी, प्रगतिशील या प्रतिबद्ध कुछ भी कहें, वह कला में जीवन जीता है और जीवन में कला। रस्किन जैसे साहित्य-कार ने तो कहा था कि ''श्रम-रहित कला एक अपराध है और कला-रहित श्रम बर्बरता है।'' इस नज़रिए से अगर साहित्य को पढ़ा-परखा जाए तो लगता है कि हिन्दी का साहित्यकार और ख़ासकर जल्दी में कवि, कथाकार की महत्वाकांक्षा से मारे अनेक युवा साहित्यकार अपनी रचना के लिए न तो आवश्यक श्रम करते हैं न रचना की उत्कृष्टता के लिए अपने कलाबोध से साहित्य रच पाते हैं। यही वजह है कि हमारा साहित्य आज भी विश्व साहित्य के समक्ष लड़खड़ाता रहता है और इस कारण अपनी भाषा और रचना के प्रति हमारे अन्दर हीन भावना या विश्वास-हीनता पैदा हो जाती है। हम केवल मंच-मुग्ध बने रहते हैं और जल्दी यश की महत्वाकांक्षा के कारण श्रमरहित रचना और कलारहित श्रम कर पाने के कारण जल्दी ही बुझ जाते हैं या ग़ायब हो जाते हैं।

भारत के पास कलात्मक साहित्य रचना की अपार संभावनाएँ हैं। यदि सूरदास मंदिर में बैठकर प्रज्ञाचक्षु से कृष्ण की बाल-लीलाएँ देखकर रचना कर रहे हैं तो सूरदास कृष्ण में कलात्मक उल्लास देख रहे हैं और उनका हर पद श्रृंगार का हो या भक्ति का, बाल-लीलाओं और प्रेम की अद्भुत कलात्मक अभिव्यक्ति बन जाती है। साहित्य के प्रति एक रचनाकार को इसलिए सूरदास की तरह अपने ही कलात्मक मानस की खोज करनी चाहिए।

जब साहित्यकार जीवन को प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक कृति मान कर रचना करेगा तो उसकी हर रचना कलात्मक उन्मेष पाकर सार्थक हो सकती है। जीवन से असम्बद्ध कला हो या साहित्य, वह मनुष्य की रागवृत्ति को कभी अपील नहीं करेगा। यथार्थवाद या प्रगतिशील वामपंथी रचनाकार भी चाहे मज़दूर, किसान, शोषण, उत्पीड़न पर कितनी भी यथार्थ रचना करें, यदि उनका रचा यथार्थ पाठक या श्रोता को हिला देता है तो यह उस रचना के शब्दों में निहित कला है, शब्द का संगीत है, शब्द का रस-भाव है। इसलिए कविता या कहानी का रसास्वाद किया जाता है और हमारा काव्यशास्त्र भी पश्चिम के सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के विरूद्ध अपना रस-सिद्धांत रचता है।

साहित्य को जीवन-सम्बद्ध कला बनाने में भक्ति काल के संत-सूफी कवियों का बड़ा योगदान रहा है। तुलसी का रामचरित मानस, कबीर के दोहे एवं पद, सूरदास के पद, दृष्टिकूट और सूफ़ी कवियों का निराकार तसव्वुर एवं भक्तिभाव, ये सब जीवन-सम्बद्ध इसलिए हैं कि ये मात्र कविता नहीं हैं, बल्कि उनमें निहित है मधुर संगीत, शब्द-ध्वनि, और नृत्य रूपांतरण में अनेक भाव-मुद्राएँ-जैसे कृष्ण की बाल-लीलाएँ, कृष्ण-राधा-गोपी रास आदि। यह कला रूप इतना सौन्दर्यमय और संपूर्ण है कि मनुष्य को अपनी भौतिक उपस्थिति से ट्रांसेण्ड कर अधिभौतिक बना देता है। कलाएँ करती ही क्या हैं?

मनुष्य में निहित रागभाव को उत्तेजित और उमंगित करने के अलावा? यदि कोई कविता, कहानी या नाटक हमें

भाषा, साहित्य, कला तीनों ही जीवन के बिना असंभव

जब एक अफ्रीकी कवि से पूछा गया कि कविता क्या है? उसका उत्तर था- 'मनुष्य'। अब इस एक शब्द में 'मनुष्य' होने के कितने अर्थ-संदर्भ मौजूद हैं। इसी प्रकार गांधी भाषा के प्रश्न पर कहते है उस वक्त, जब उनकी महानता का गुणगान किया जाता है। वे कहते हैं ''विशेषणों में संज्ञाओं को खराब कर दिया है।'' इस छोटे से वाक्य में गांधी के कितने जीवन-संदर्भ निहित हैं। इसलिए साहित्य में शब्द-स्फीति अच्छा लक्षण नहीं माना जाता वहीं शब्द-मितव्ययता को अच्छा गुण माना गया है। ये सब अभिव्यक्तियाँ जीवन से ही उद्भूत है और जब हम सामान्य से कुछ असामान्य करते या कहते हैं, लिखते या रचते हैं तो भाषा में वह अभिव्यक्ति कला-रूप गृहण कर लेती है। भाषा, साहित्य, कला तीनों ही जीवन के बिना संभव नहीं और अन्य प्राणियों से पृथक साहित्य और कलाओं में यह जीवन-बोध ही उन्हें जीवन-सम्बद्ध करता है। इसलिए कहा जा सकता है हम जो साहित्य रचते हैं यदि वह अपनी संपूर्ण जीवनी शक्ति के साथ कला रूप गृहण करता है तो इससे कला और साहित्य दोनों ही सार्थक होते हैं।

हँसा सकता है तो उसमें हास्य रस की कला है, रुला सकता है तो उसमें करुण रस है, यदि वह हमारे प्रेम तत्व को गुदगुदाता है तो उसमें श्रृंगार रस है और वीरगाथाकाल का काव्य पढ़ा जाए तो उसमें हमें वीर, रौद्र एवं भयानक और जुगुप्सा की भी प्रतीति होती है। जीवन यदि सतत कर्मशील संघर्ष है, एक प्रकार का मानसिक द्वंद्व है या समस्याओं से जूझता आत्म-युद्ध है तो जब उसका चित्रण साहित्य में होता है तो वह अपने आप जीवन-सम्बद्ध हो जाता है और नाना प्रकार के भावों, मुद्राओं एवं विचारों में व्यक्त होकर कला-रूप धारण कर लेता है। जीवन-सम्बद्ध कला में संगीत, नृत्य, नाटक, लोकगीत एवं लोककलाओं का अपना स्थान महत्वपूर्ण तो है ही मगर जब कोई हिन्दी या उर्दू ग़ज़ल गाई जाती है,

भारत के पास कलात्मक साहित्य रचना की अपार संभावनाएँ हैं। यदि सूरदास मंदिर में बैठकर प्रज्ञाचक्षु से कृष्ण की बाल-लीलाएँ देखकर रचना कर रहे हैं तो सूरदास कृष्ण में कलात्मक उल्लास देख रहे हैं और उनका हर पद श्रृंगार का हो या भक्ति का, बाल-लीलाओं और प्रेम की अद्भुत कलात्मक अभिव्यक्ति बन जाती है।

गीत या कव्वाली जब मंत्रमुग्ध करते हैं तो फिर चाहे ये रचनाएँ ग़ालिब करें या हमारे आज के शाइर और हिन्दी ग़ज़लकार, या गीत चाहे तुलसी, सूर कबीर के पदों में हों, या प्रसाद, निराला, पंत महादेवी से लेकर नए से नए गीतकार को वे संगीतमय होते ही साहित्य से कला-रूप ग्रहण कर लेते हैं और चूंकि साहित्य तो एक प्रकार से वैकल्पिक जीवन की ही रचना है, इसलिए साहित्य और कला दोनों जीवन-सम्बद्ध हो जाते हैं।

जीवन है क्या? हम इस कुछ भौतिक और रासायनिक तत्वों की निर्मिति ही नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा पशु-पक्षिओं की निर्मिति में भी है। जब साहित्य और कला मनुष्य से जुड़ते हैं तो मनुष्य के पास जो आंतरिक अनुभूतियाँ है, उनकी अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी है, भाव भी, वाणी भी और विचार भी। इन सबके संयुक्तीकरण से जब मनुष्य कोई रचना अपने या अन्य के जीवन से खोज कर उसे अभिव्यक्त करता है तो वह जीवन का ही साहित्य होता है। यहाँ तक कि मृत्यु पर लिखे जाने वाले शोकगीत या मर्सिया और शादी, जन्मदिन एवं उत्सवों पर गाए जाने वाले गीत, लोकगीत या लोक-नाटक आदि साहित्य में जिस रागतत्व की सृष्टि करते हैं वह जीवन-स्फूर्त ही तो है। कलाएँ जीवन से विलग करके नहीं देखी जा सकतीं चाहे वह पेंटिंग में मानव पोर्टेट हो, म्यूरल्स हों, लेण्ड स्केप्स हों, काम्पोज़ीशंस हों या अमूर्त्त हों। मनुष्य के दृष्टि फलक पर जो चित्र बनते हैं वे ही तो कला बनकर अभिव्यक्त होते हैं। पिकासो तो कहते थे कि मैं किसी वस्तु या दृश्य को देखकर चित्र नहीं बनाता, मैं तो विचार का चित्र बनाता हूँ। इसका तात्पर्य यही तो है कि विचार ही तो मनुष्य के मनुष्य होने का सबूत है और विचार में ही कला की सृष्टि निहित है फिर चाहे वह संगीत-नृत्य में राग या शैली हो या साहित्य में कोई भी विधा, और वह यदि विचार जीवन सम्बद्ध है तो साहित्य भी कला रूप में जीवन सम्बद्ध है। जब कोई साहित्य-सर्जक और कलाकार वस्तु को विचार, स्थूल को सूक्ष्म, रूप को राग या भाव और भाषा को कल्पनाशील एवं सर्जनात्मक बना देता है तो ये तमाम तत्व उसे जीवन से ही प्राप्त होते हैं।

विज्ञान भौतिक वस्तु-जगत के अनुसंधान की साधना है लेकिन जब कोई विज्ञान-कथाकार विज्ञान-आधारित कहानी, उपन्यास या नाटक लिखता है तो वह विज्ञान को भी कला में बदल देता है और इस प्रकार विज्ञान और कला दोनों मिल कर जीवन को उसके सामान्य दैनंदिन भौतिक कर्म से मुक्त कर उसमें भाव-तत्व और कला-तत्व से स्पंदित होने लगते हैं।

राग-रंग के रूपक

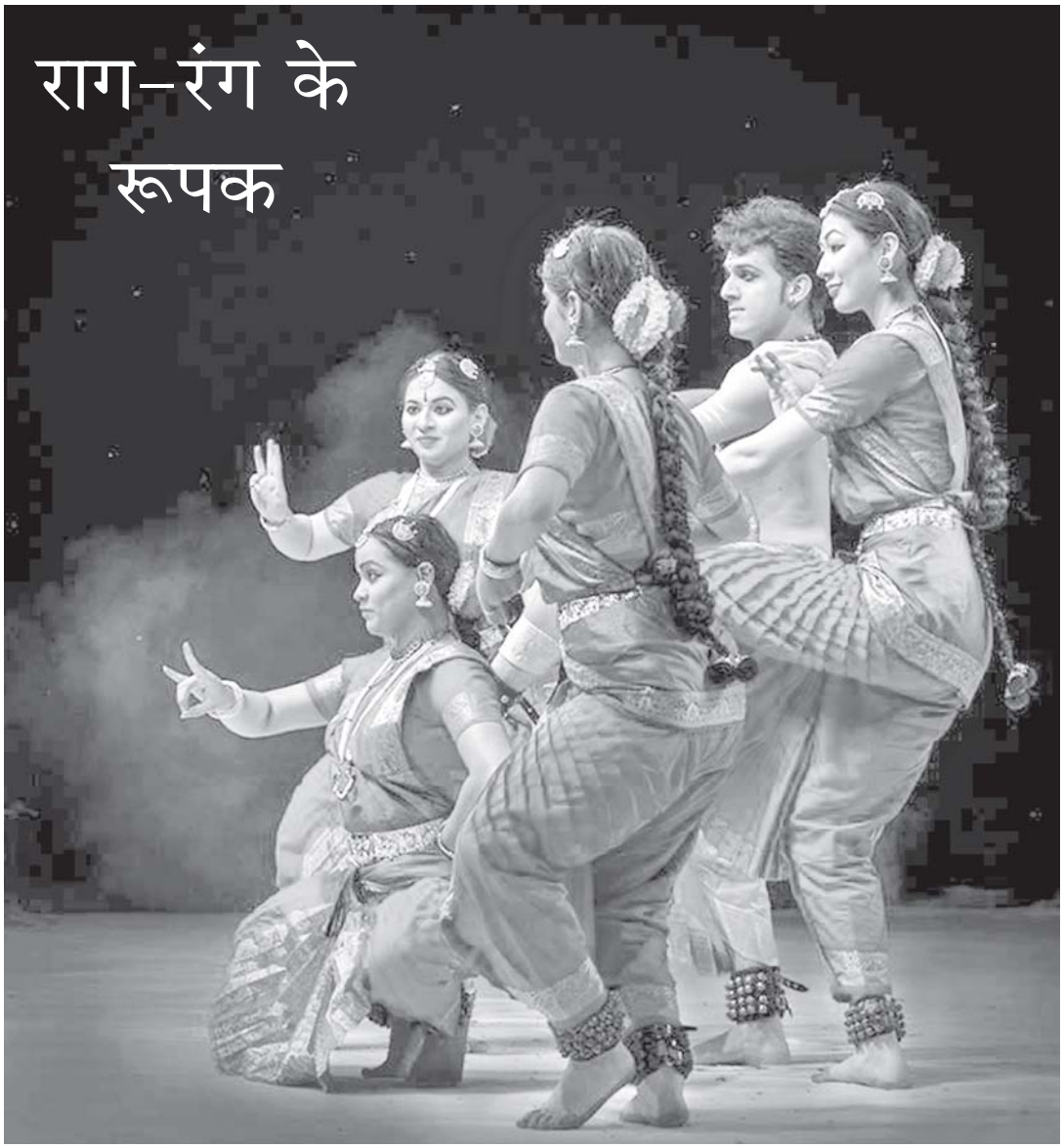

गोविंद कुमार 'गुंजन'

सौन्दर्य परिभाषा में न बांधा जा सकने वाला सत्य है। सौंदर्य की इबारत नहीं हो सकती। सौन्दर्य बोध केवल मनुष्यों में नहीं, चराचर जीव जगत का आत्म अनुभव है। फूलों में चटखदार रंग पराग कण के लिए कीट पतंगों भ्रमरों को आकर्षित करने के लिए उन्हें प्रकृति की देन है। फूलों के रंग कीट पतंगों को भी लुभाते हैं, तो कीट पतंगों तक में सौन्दर्य के प्रति लुब्ध-मुग्ध होना सिद्ध है। सौन्दर्य का जादू सब पर चलता है। सौन्दर्य का जादू सब चलाते हैं। यह जड़ जगत भी सौन्दर्य से सराबोर है और नदियों, पर्वतों, बादलों, सागरों, सूर्य, चन्द्रमा और तारों में भी इसी का आकर्षण भरा पड़ा है। सौन्दर्य को हम आकार में, ध्वनियों में, रंगों में, विस्तार में, अवगुंठन में निराकार नभ की नीलिमा में, कहाँ-कहाँ महसूस नहीं करते?

सदियों से पृथ्वी पर सौंदर्यसुक्त की ऋचाएँ ध्वनित हो रही हैं। सारे कवि सौंदर्य का बखान कर रहे हैं। दृष्टा सौन्दर्यबोध और आत्मबोध के बीच कौन सा अरण्य नहीं लाँघ जाते? यह सौन्दर्य जीवन तक ही सीमित नहीं है वह मृत्यु के उदास और एकांत अँधेरे में भी मुस्कुराता हुआ मिल जाता है। मुझे जीवन की विभीषिका से घबराए हुए एक आत्मीय चेहरे की याद आती है। किसी कृपाण से कटीले क्षण में उसने विषपान करके अपनी ईहलीला समाप्त कर ली थी, ज़िंदगी से आखिरी शरारत जो कर ली थी। लेकिन उसके होंठो में फँसी हुई मुस्कुराहट से उसके चेहरे की सुंदरता किसी भाव-थिरता में जम गयी सी मालूम

सौंदर्य की उपस्थिति में मन भीगता है, पिघलता है, बहता है, खिलता है, मुग्ध होता है, बेहाल होता है, विस्मृति के कगारों से उसका सारा दुख फिसलकर किसी गहरे कूप में गुम हो जाता है। सौंदर्य विश्वास जगाता है। अपनापन उसके भीतर से बाहर तक फैला हुआ लगता है। तमाम तर्कों से परे कलाओं की तरह सौंदर्य भी जीवन का अनिवार्य अंग होता है।

हो रही थी। क्या वह सुन्दरता उसके शव से अलग की जा सकती थी?

सौन्दर्य प्रकृति से जन्मता है। वह ईश्वर की तरह स्वयं भू है, परंतु इसे मानवीय विधियों से भी पुनः सर्जित किया जाता है, जिन मानवीय विधियों के द्वारा सौन्दर्य पुनसर्जित किया जाता है, उन विधियों को कला कहा जा सकता है। एक सदी पहले यूरोप में इस बात को लेकर बहुत बहसें हुई कि कला, कला के लिए है, या जीवन के लिए। इन बहसों में कला के साथ नैतिकता का सवाल उठाया गया और यही बिंदु सबसे अधिक विवाद का विषय बना। कलावादियों का सौन्दर्यबोध और उपयोगितावादियों का सौंदर्यबोध दो भिन्न-भिन्न धरातल थे, और मार्क्सवादी चिंतन के साथ सौन्दर्यबोध का एक और ही नया आयाम सामने आया। सुकरात कहता था कि एक गोबर से भरी टोकनी भी सुंदर कही जा सकती है यदि वह अपना कोई उपयोग रखती है, जबकि चमचमाती हुई स्वर्ण जड़ित ढाल भी असुंदर है, यदि वह उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण है। आई. ए. रिचर्डस् ने मुख्य रूप से भावनात्मक संतुष्टि को ही सौन्दर्य माना। मार्क्सवादी दृष्टि में सौंदर्य के फूल सिर्फ शोषणमुक्त आकाश में ही खिल सकते हैं, श्रम के स्वेद से सौन्दर्य की आभा निखरती है, तो अन्याय के प्रतिकार में उठ खड़े हुए मानवीय आवेग में भी सौन्दर्य का मंगल अवतरण होते हुए अनुभूत किया जाता है। सौंदर्य की कथा हरिकथा की तरह अनंत है, और जिसे बहुविधि कहा और सुना जाता है, परंतु यह कथा सदैव असमाप्त ही रह जाती है। इसकी कथा का उत्तरकांड कभी नहीं आता। वस्तुतः सौन्दर्य हमारी स्मृति चेतना का जन्मांतरों से जुड़ा संस्कार है, जो दृश्य के अदृश्य में परिवर्तित हो जाने के बाद भी स्मृति पटल पर जगमगाता रह जाता है। उसकी धारा चेतना की समस्त प्रवृत्तियों को इस तरह डुबो सकती है जैसे महाप्रलय की जल राशि में पूरी पृथ्वी डूब जाया करती है।

फिर सिर्फ जल ही जल बचता है। ऊपर भी, नीचे भी। आगे भी, पीछे भी और उसके ऊपर केवल आकाश का आवरण बचा रहता है।

आधुनिक युग में भी अभी कला और सौंदर्य के संबंधों पर विचार पूरा नहीं हो सका है। ''न्यू स्टेस्टसमेन एन्ड सोसायटी'' में गुंटर ग्रास ने एक स्थिति पर जो कहा है वह है तो कला के संबंध में परंतु अंततः उससे सौंदर्यबोध ही व्याख्यायित होता हुआ मिलता है। वह लिखता है ''कला आश्चर्यजनक रूप से अबौद्धिक, और असीम रूप से निराधार या अप्रस्तुत होती है, परंतु हर समय वह आवश्यक होती है।'' गुंटर ग्रास की यह उक्ति हमें सौंदर्य एवं कला की अमूर्तता को गहराई तक समझने में मदद करती है। इसके लिए हमें सबसे पहले उपयोगी होने और आवश्यक होने में भेद करना सीखना पड़ेगा। यह फ़र्क बहुत सूक्ष्म है परंतु यही सूक्ष्म फ़र्क बहुत बड़ा हो जाता है। विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि दो धातुओं के बीच उनके एक छोटे से अणु की रचना में मात्र एक परमाणु की संख्या का अंतर आ जाने से धातुएँ

बदल जाती है। उदाहरण के लिए सोना और पारा अलग अलग धातुएँ हैं, परंतु उनकी सूक्ष्म आणविक रचना में केवल एक ही परमाणु का अंतर है और मात्र इतने ही अंतर से सोना, सोना है और पारा पारा। उपयोगी होने और आवश्यक होने में भी ऐसा ही सूक्ष्म परंतु महत्वपूर्ण फ़र्क है। हम ऐसा नहीं कहते कि प्राणियों के लिए साँस उपयोगी है। कहते हैं, साँस आवश्यक है। कुछ आवश्यक चीजों या बातों का उपयोगी हो जाना उनका एक अतिरिक्त लाभ हो सकता है परंतु वह ऐसी ही अनैच्छिक क्रियाओं से जुड़ा है जैसे हृदय का धड़कना।

हृदय का धड़कना आवश्यक है, इस धड़कने से शरीर में उसका उपयोग भी हो जाता है, परंतु उपयोग करने के लिए हृदय को धड़काना आदमी की इच्छानुसार संभव नहीं है।

कला को मैं सौंदर्य उत्पन्न करने की मानवीय विधि कहता हूँ। यह विधि मानवीय क्रिया कलापों तक में सम्मिलित है। हँसना भी एक कला है, बोलना भी एक कला है, यदि इस हँसने और बोलने से कोई सौंदर्य जग रहा हो तो। अन्यथा एक पागल का हँसना और किसी का मूर्खतापूर्ण बोलते रहना कोई सौंदर्य नहीं जगाता। अत: यह बोलना और हँसना कलात्मक नहीं है। इसके विपरीत एक कलाकार द्वारा पागल के अभिनय में हँसना या किसी मूर्ख व्यक्ति की भूमिका में अनर्गल बोलना भी सहृदय श्रोता-दर्शक के मनाकाश में कोई सुंदर सा बिंब उभार सकता है। तब वह पागलों सा हँसना बोलना भी कला का ही एक रूप हो जाया करता है।

कला यदि सौन्दर्य उत्पन्न करने की मानवीय विधि है, तो सौंन्दर्य आनंद उत्पन्न करने वाली प्राकृतिक शक्ति। यह शक्ति जड़ चेतन में समान रूप से विद्यमान है। कला के लिए कृत्रिमता उपकरण का काम करती है, और अनुकरण क्रिया का। इसका परिणाम होता है एक ऐसा मूर्त या अमूर्त बिंबन जो हमारी आनंद चेतना को झंकृत कर दे।

कलाओं की तरह सौंदर्य भी तर्कातीत और जीवन का अनिवार्य अंग होता है। बुद्धि, चतुरता, ज्ञान, विज्ञान, अज्ञान, अबोधता, आकार, प्रकार, रंग,

सौंदर्य की परिणति आनंद

सौंदर्य की अंतिम परिणति आनंद दायक होना चाहिए इस कसौटी में आनंद शब्द की सीमा का विस्तार ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है। मानवीय अनुभूतियाँ विचित्र हैं। कोई पीड़ा में भी आनंद का स्वाद ले सकता है। स्त्री को इस अनुभव से गुज़रने का अवसर प्रकृति ने असीम रूप से प्रदान किया है। एक बच्चे को जन्म देने की मर्मातंक और जानलेवा पीड़ा से गुज़रते हुए उसकी चेतना जिस आनंद की अनुभूति से गुज़रती है उसी आनंद से स्त्री के मुख मंडल पर मातृत्व का सौन्दर्य जगमगाता है। मातृत्व की मुस्कुराहट से संपन्न कोई भी स्त्री या कोई भी मादा अपने रूप, रंग, आकार, विकार के परे जिस सुंदरता के शिखर पर छू लेती है, वह उसकी उसी पीड़ा का पुरस्कार है। सौन्दर्य का जन्म अनुभूति की गहराई में ही संभव है। वह सुख और दुख आनंद या व्यथा से भी परे होता है। सौदर्य आकृति पर निर्भर नहीं है। वह एक अमूर्त भाव है, जिसका आवेग अनुभव करने में कभी परम शांति का भी अनुभव होता है, कभी उसकी विद्युत द्रष्टा या भोक्ता की उत्तेजना को भी बढ़ा देती है।

सौंदर्य आधे उजाले और आधे अंधेरे की संगम संधि से मुस्कुराते हुए प्रकट होता है और मानसिक और हार्दिक वृत्तियों को आद्र कर जाता है। सौंदर्य की उपस्थिति में मन भीगता है, पिघलता है, बहता है, खिलता है, मुग्ध होता है, बेहाल होता है, विस्मृति से कगारों से उसके सारे दुख फिसलकर किसी गहरे कूप में गुम हो जाता है, सौंदर्य विश्वास जगाता है, अपनापन उसके भीतर से बाहर तक फैला हुआ लगता है।

गंध, इत्यादि सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले कारक तो हैं, पर सौंदर्य सिर्फ इन्हीं पर आश्रित नहीं होता। सुबह-सुबह जब सूरज निकलता है तो उसके प्रकाश की कोई एक ध्रुवीयता नहीं रहती। उसका प्रकाश चारों तरफ बिखरता है। यदि एक बिंदु पर ही वह प्रकाश बिखराता तो वह सूरज भी एक विशाल 'टार्च' ही रह जाता। प्रकाश का देवता नहीं बनता। दीये की लौ भी एक बिंदु पर प्रकाश नहीं फेंकती। प्रकाश उसके चारों ओर होता है। कोई कोना उसके प्रकाश से अछूता नहीं रहता, इसी प्रकार सौन्दर्य जीवन के सारे कोनों में जगमगा सकता है, चाहे वह कोना उपयोगी हो या न हो। नैतिक हो या न हो।

मनोविज्ञान, ज्योतिष और कामशास्त्र के निष्कर्ष सौंदर्य बोध को हमारी काम चेतना से जोड़ते हैं। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शुक्र ग्रह सौंदर्य और कलाओं का, वैभव और विलास का तथा प्रणयकामना का गृह है। इसके आधिपत्य की दो राशियाँ वृषभ और तुला प्रतीकात्मक रूप से काम चेतना की ही वृषभ की तरह निर्बंध और बलवान, अथवा तुला रूपी विवेक से संतुलित दो स्थितियाँ बताते हैं। कामी की मनोदशा को कालिदास ने जड़-चेतन तक का भेद भुला देने वाली प्रबल विव्हलता से भरा हुआ माना है। प्रेमी को अपना प्रिय संसार का सर्वाधिक सुंदर व्यक्ति लगता है। माता-पिता को अपनी संतान अधिक सुंदर लगती है। कलाकारों को अपनी रचना सर्वाधिक सुंदर लगती है। इस लगने के पीछे अपनी कामना का विस्तार ही होता है यह बात साधारणतया विस्मृत हो जाती है।

सौंदर्य अपने निहित साधनों की ऊर्ध्वगति से ही और उच्च आदर्शो के प्रति उन्मुख होकर ही अधिक शोभा पाता है, यह बात आदर्शवादियों द्वारा प्रतिपादित की जाती रही है। इस अवधारणा में लोक मंगल की भावना का समावेश होने से सर्वजनीन रूप से स्वीकृति मिल जाती है। तुलसीदास ने मयूर का उदाहरण देकर कहा है कि जब तक मोर की पूँछ के पंख जमीन पर लुकते चलते हैं, तब तक वे कलाहीन रहते हैं पर जब लोक रक्षक और लोक रंजक मेघ को देखकर मयूर उमंग से भर जाता है और पंख ऊपर उठ जाते हैं तब वे कलापूर्ण होकर फैल जाते हैं।

यह एक आदर्शवादी व्याख्या है, परंतु यह अंतिम सत्य नहीं है। मयूर को मेघ के लोक रंजक या लोक रक्षक भाव का कुछ पता नहीं होता। वह तो मेघों के छा जाने पर अपने भीतर काम भाव की वृद्धि हो जाने के कारण उत्फुल्लित होकर झूमने लगता है। इसी काम जन्य उत्तेजना से उसके पंखों का सौंदर्य अधिक व्याप्त हो जाता है।

उपयोगिता की दृष्टि से सौंदर्य की कसौटियाँ और कला के पैमाने दृष्टि को संकुचित बनाते हैं। इससे अंतिम परिणिति में भोगवादी वृत्ति की ही पुष्टि होती है। सौंदर्य आकाश की तरह असीम, वायु की तरह आयाम रहित, अग्नि की तरह सर्वदिशाओं में जगमगाता, जीवन और मृत्यु दोनों से निरपेक्ष ईश्वर की तरह स्वयं भू होता है और प्रत्येक अनुभवकर्ता के लिए उसका एक अपना निजी और भिन्न एकांत अनुभव होता है। सौंदर्य के जितने अनुभोक्ता हैं उतने ही उसके स्वरूप और उतने ही उसके निजी अनुभव संभव हैं। सौंदर्य से रहित सृष्टि में कुछ नहीं है अतः हम उसे प्रकृति का प्राणतत्व कह सकते हैं। प्राणतत्व को उपयोगिता की दृष्टि से नहीं, अनिवार्यता की भाषा में समझा जाता है। इस अनिवार्यता में ही सौंदर्य की यह शाश्वत शक्ति इस समस्त जड़ चेतनमय ब्रम्हाण्ड में परिव्याप्त है।

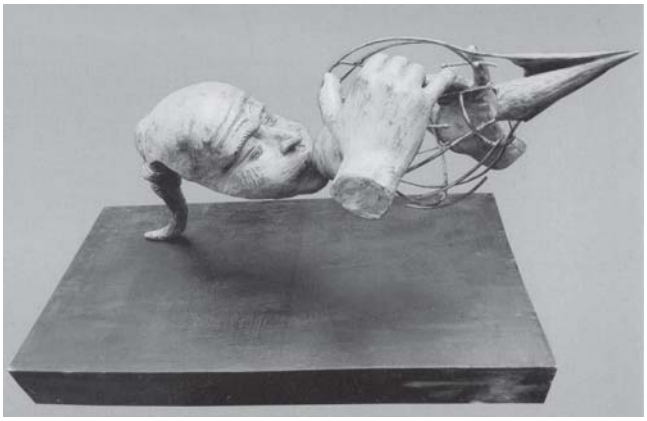

संजय प्रजापति

सृजन संवाद : दया प्रकाश सिन्हा

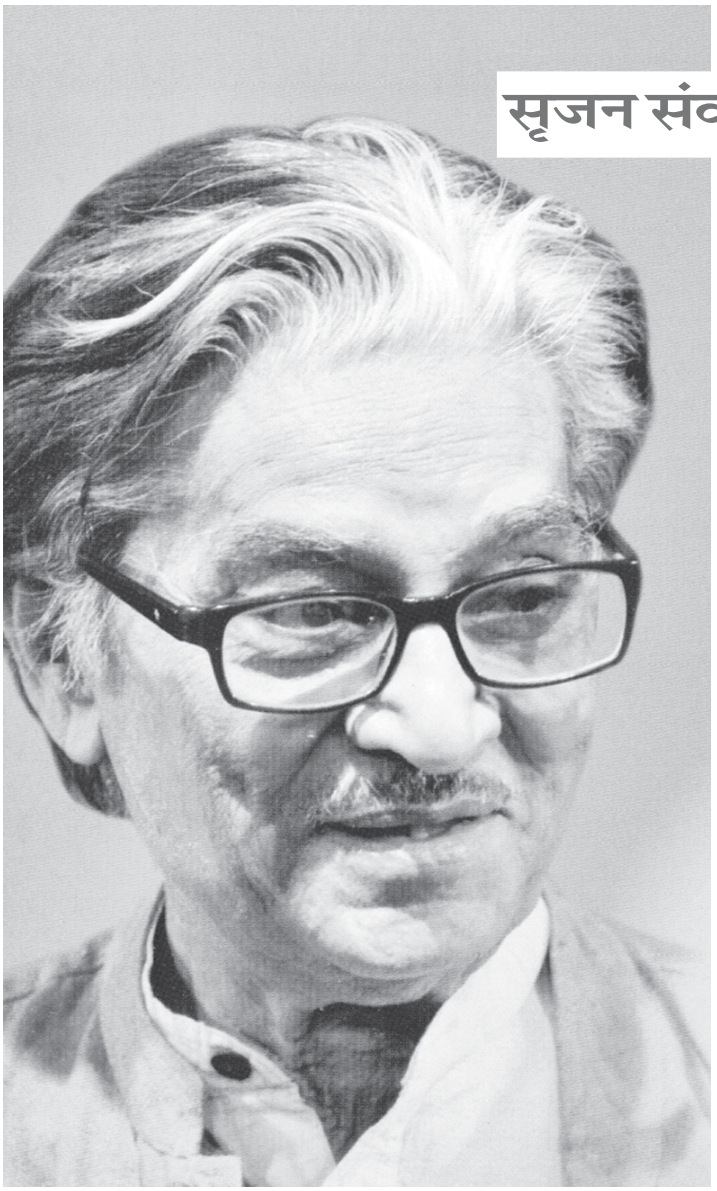

नाटक में ही दिखाई देती है इंसान की असल तस्वीर

भारत के सांस्कृतिक इतिहास बोध और सामाजिकता को नए वैचारिक उद्वेलन के साथ अपनी लेखनी में जज़्ब करते हुए दयाप्रकाश सिन्हा अपने समकालीनों में अलहदा सी उपस्थिति बने हुए हैं। पहले नाटक 'सांझ सवेरा' से लेकर चार बरस पूर्व आए 'सम्राट अशोक' तक उनके खाते में दर्जन भर नाटक हैं जिनके मंचन देशभर में होते रहे हैं। फिलहाल संत रहीम की जीवनी को कागज़ पर उतारने की तैयारी है। सिन्हा की रंगमंच से दिल्लगी किशोर-युवा उम्र से रही है। पहले अभिनय, फिर निर्देशन और इन्हीं के समानांतर नाट्य लेखन जारी रहा। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं से सम्बद्ध रहकर उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में उन्होंने संस्कृतिकर्म को नई दिशा दी। केन्द्र शासित सांस्कृतिक उपक्रमों के अध्यक्ष, सचिव, निदेशक और सलाहकार रहे। भारत भवन (भोपाल) के न्यासी सचिव और अध्यक्ष भी रहे। अस्सी पार की आयु में भी ख़ासे सक्रिय और आत्मचेतस हैं। लगभग छः दशकों के आसपास फैले अपने सृजनशील सांस्कृतिक जीवन की स्मृतियों और अनुभवों को समेटता उनका यह विरल साक्षात्कार रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय भोपाल के स्टुडियो में रेकार्ड हुआ।

दयाप्रकाश सिन्हा से विनय उपाध्याय और प्रेमशंकर शुक्ल की वार्ता

विनय उपाध्याय: परिवार होता है जहाँ हम बुनियादी संस्कार पाते हैं और उसके बाद अपने रुझानों को पहचानकर एक दिशा पकड़ते हैं। आपकी पारिवारिक पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक रुझान को लेकर क्या स्थितियाँ थीं और आप कैसे इस दिशा में प्रवृत्त हुए?

दयाप्रकाश सिन्हा: परिवार में तो ऐसा कुछ नहीं था लेकिन हाँ, हमारे परिवार में थोड़ी-सी आस्तिकता अधिक थी। पंजाब के एक बड़े सन्त हुए हैं- स्वामी रामतीर्थ, वे हमारे बाबा के मित्र थे और वे हमारे घर भी आते थे। हमारे परिवार में आस्तिकता, वेदान्त, आध्यात्मिकता का वातावरण था। हमारे पिताजी को थोड़ी-सी रुचि थी नाटकों में और शायद फर्रुखाबाद (उत्तरप्रदेश) में पोस्टेड थे। बंगाली लेखक धीरेन्द्रनाथ राय के नाटक 'चन्द्रगुप्त' में उन्होंने 'चाणक्य' की भूमिका की थी। मैंने देखा था। तब मेरी उम्र शायद सात साल की होगी। उसके कुछ दृश्य मेरे दिमाग में हैं।

मेरे ख्याल से वो जीन्स में होगा या पूर्वजन्म के संस्कार होंगे। मुझे लगा कि नाटक करना चाहिए और आकर्षित हुआ नाटक की ओर। मैंने बचपन में कभी कोई नौटंकी देखी थी, उसकी स्मृतियाँ हैं। 'लैला-मजनूं' को भी देखा, जिसमें मजनूं कपड़े फाड़ता था। वो सब चीज़ें, वो दृश्य मेरे दिमाग में हैं। जब आठवें दर्जे में पढ़ता था तब मैंने खुद ही कहानी का नाटकीयकरण किया और उसका स्कूल के फंक्शन में दस-पन्द्रह मिनट का मंचन किया। तो रुचि स्कूल से ही थी।

जब इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में था, पता नहीं कैसे कहा कि हम नाटक करेंगे। कुछ मित्र मिल गये। एक थे- के.व्ही. चन्द्रा। वह बॉम्बे गये थे फ़िल्म डायरेक्टर बनने। शायद एकाध किसी फ़िल्म में केदार शर्मा के असिस्टेंट डायरेक्टर वगैरह थे और उसके बाद चले नहीं, वापस आ गये और उन्होंने आकर यूनिवर्सिटी में लॉ ज्वाइन कर लिया था। चूँकि वो 'बम्बई पलट' थे और फ़िल्मों का सम्पर्क था तो हमारे लिए बड़े आकर्षण का केन्द्र थे और लगता था कि ये अज़ीब चीज़ हैं, ये तो बम्बई-पलट हैं। उन्होंने कहा कि हम नाटक करेंगे, तो हमने कहा-हम भी करेंगे। हम लोगों ने मिलकर नाटक किया।

उस ज़माने में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में लड़के-लड़कियाँ एक साथ एक्टिंग नहीं करते थे। मुझे याद है, मैंने एक संस्कृत डिपार्टमेन्ट का नाटक देखा। संस्कृत के जो पण्डित जी थे, उन्होंने गोरे लड़के को स्त्री का पात्र दे दिया और काले लड़कों को पुरुषों का पात्र दे दिया था। उन्होंने उनके शरीर के साइज नहीं देखे थे। तो गोरे लड़के अगर लम्बे हैं तो लम्बी स्त्रियाँ थीं और जो काले लड़के पुरुष हैं तो वो छोटे-से पुरुष थे। वो अजीब सा था। वह बोले, बॉम्बे में तो सब लड़कियाँ एक्टिंग करती हैं, यहाँ क्यों न करें! मैंने कहा, बिल्कुल ठीक है। लक्ष्मीनारायण नायडू उस ज़माने में यूनिवर्सिटी में किसी कॉलेज में लेक्चरर हो गये थे। उनका नाटक हम लोगों ने चुना- 'ताजमहल के आँसू'। 'ताजमहल के आँसू' में 'जहांआरा' का रोल था। हम लोग सोचते थे कि जहांआरा बहुत खूबसूरत होगी तो कोई खूबसूरत लड़की को एक्टिंग करना चाहिए लेकिन कोई लड़कियाँ आती नहीं थीं स्टेज पर। उस ज़माने में एक लड़की थी रजिया काज़मी, वह बोल्ड थी और लड़कियों के स्टैण्डर्ड के हिसाब से। हमको लगा कि ये शायद एक्टिंग कर दे हम लोगों के साथ। हम उसके पास गये, हमने उससे रिक्वएस्ट की कि तुम हमारे नाटक में एक्टिंग कर लो, जहांआरा का रोल है। उसने मना कर दिया। तो समझ नहीं आया क्या करें?

> **उस दिन ऐसा हुआ कि मैं स्टेज पर था। हॉल भरा हुआ था। मैंने डायलॉग बोले लेकिन मेरी अन्तरात्मा की आवाज़ नहीं बोली। मैंने फिर डायलॉग बोला, फिर भी अन्तरात्मा की आवाज़ नहीं बोली। ऐसे तीन-चार-पाँच बार बोला, अन्तरात्मा की आवाज़ नहीं बोली। स्टूडेण्ट्स समझ गये कि गड़बड़ हो गयी और लोग 'बोर-बोर' चिल्लाने लग गये, कोई हॉर्न बजाने लग गया। हूट किया। क्रोध में मैंने कहा ''पर्दा बंद करो और गुस्से में अन्दर चला गया।''**

उन दिनों नाट्यकर्मी नेमिचंद जैन इलाहाबाद में रहते थे। उनकी किताबों की दुकान थी, उसका नाम था 'आधुनिक पुस्तक भण्डार'। उनकी पत्नी रेखा जैन थीं जो इप्टा से जुड़ी हुई थीं। वह नृत्य भी करती थीं। उनके घर मेरा आना-जाना था। मैंने रेखा जी से कहा कि हम लोग नाटक करना चाहते हैं और हम चाहते हैं कि जहांआरा के रूप में बहुत खूबसूरत लड़की कोई हो और हमने वह लड़की तय कर ली है रजिया काज़मी। आप उससे चलकर हमारी सिफारिश कर दीजिए। तो उन्होंने कहा- चलो और वह रिक्शा में बैठीं। उस ज़माने में हम साइकिल चलाते थे, मैं साइकिल पर बैठा और हम उनके घर गये। रजिया से रेखा जी ने कहा- 'सिन्हा साहब बहुत भले आदमी हैं, तुम एक्टिंग कर लो।' उसने रेखा जी से कहा- 'सिन्हा साहब ने आपको ला करके मुझे फाँस लिया'। उसने एक्टिंग कर ली और वो बहुत हिट हो गयी क्योंकि वह मशहूर लड़की थी।

विनय उपाध्याय: तो इस तरह आपका रुझान नाटकों के प्रति बढ़ा...

दयाप्रकाश सिन्हा: इसके पहले एक और घटना हुई। मैं यूनिवर्सिटी यूनियन का सदस्य बन गया था। के.व्ही. चन्द्रा जी के समय से रेग्युलर थियेटर की शुरूआत हुई। उसके पहले मैंने एक नाटक लिखा था, उसका नाम था- 'भूख'। उस समय जो वातावरण व्याप्त था, उसके हिसाब से कुछ रियलिस्टिक नाटक लिखने की कोशिश थी। मैं यूनिवर्सिटी यूनियन का मेम्बर था तो मैंने कहा कि हम यूनियन में ही नाटक करेंगे। पन्द्रह मिनट का नाटक करेंगे। चूँकि मैं मेम्बर था, मैंने नाटक लिखा था, उसमें एक दृश्य यह था कि मैं कुछ डॉयलॉग बोलता हूँ, मेरी अन्तरात्मा की आवाज़ नेपथ्य से जवाब देती है। उस दिन ऐसा हुआ कि मैं स्टेज पर था और हॉल भरा हुआ था, मैंने डॉयलॉग बोले लेकिन मेरी अन्तरात्मा की आवाज़ बोली नहीं। मैंने फिर डॉयलॉग बोला, फिर भी अन्तरात्मा की आवाज़ नहीं बोली। ऐसे तीन-चार-पाँच बार बोला, अन्तरात्मा की आवाज़ नहीं बोली। स्टूडेण्ट्स समझ गये कि गड़बड़ हो गयी और लोग 'बोर-बोर' चिल्लाने लग गये, कोई हॉर्न बजाने लग गया, हूट किया और क्रोध में मैंने कहा पर्दा बंद करो और गुस्से में अन्दर चला गया। नेपथ्य से जिसको अन्तरात्मा की आवाज़ बोलनी थी, मैंने सोचा कि उसको मार ही डालूँगा। मैं अन्दर गया और पता लगा कि वह भाग गया।

विनय उपाध्याय: सिन्हा जी, इतिहास को समझने की भी बात होती है। प्रशिक्षण की भी बात होती है। आजकल सीखने-समझने की सम्भावनाएँ बढ़ गयी हैं। आप लोगों ने अपने भीतर एक कलाकार को बहुत ठीक से निखारने, सँवारने और उसके भीतर सैद्धान्तिक किस्म की अनुशासनात्मक प्रवृत्ति विकसित करने की दिशा में क्या किया?

दयाप्रकाश सिन्हा: 1947 में जब देश आज़ाद हुआ तो नाटक जगत में एक सन्नाटा था। विशुद्ध सन्नाटा। हमारे यहाँ जब मुसलमानों का आक्रमण हुआ 12वीं-13वीं शताब्दी में, तो उस समय जो नाटक की परम्परा थी, कालिदास की, भास की, विशाखदत्त की, नागार्जुन की जो परम्परा थी वो समाप्त हो गयी और थिएटर हिन्दी भाषी क्षेत्र में बिल्कुल ही समाप्त हो गया। क्योंकि इस्लामिक इथॉस में संगीत, नाटक प्रोहिव्हीटेड है। इसलिए परम्परा थी नहीं। लेकिन तब प्रश्न यह उठता है कि

संवाद.... दया प्रकाश सिन्हा, प्रेमशंकर शुक्ल और विनय उपाध्याय

संगीत कैसे बच गया और नृत्य कैसे बच गया? संगीत इसलिए बच गया कि जो बड़े-बड़े शहर थे वहाँ तो शास्त्रीय संगीत नहीं रहा लेकिन जंगलों में, दूर गाँव में, सुदूर गाँव में जो मन्दिर थे- एकाकी मन्दिर- उनमें अष्टयाम की आरती की परम्परा थी, इसलिए वहाँ पर वो शास्त्रीय गायन होता रहा और इससे परम्परा के रूप में बच गया। नृत्य इसलिए बच गया कि जो मुस्लिम शासक थे, वो अपने मनोरंजन के लिए नृत्य देखते थे तो वो नृत्य कोठों पर चला गया और कोठों पर चलकर वो परम्परा से जुड़ गया। लेकिन नाटक नहीं बच सका।

मैंने ईमानदारी से नाटक लिखे हैं। जिस चीज़ का मुझे अनुभव नहीं, मैं वो नाटक में कैसे डाल देता। जितने नाटक हैं, चाहे ऐतिहासिक नाटक हों, चाहें पौराणिक नाटक हों या सामाजिक नाटक हों, कहीं न कहीं उसमें मैं मौजूद हूँ। जो मेरा अनुभव नहीं है, जिस जगत का मैं हिस्सा नहीं हूँ, उसको मैं कैसे डाल देता!

नाटक रिवाइव हुआ भारत में 19वीं शताब्दी में। 19वीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी, उसके बाद अंग्रेज़ों का शासन आ गया। अंग्रेज़ों की छावनी में शेक्सपीयर के नाटक होते थे। जिस तरह बंगाली कहीं जाता है तो वह दुर्गापूजा ले जाता है और बंगाली दुर्गापूजा में नाटक ले जाता है, उसी तरह अंग्रेज़ कहीं भी जाते थे, अपने साथ शेक्सपीयर को ले जाते थे। तो अंग्रेज़ों की छावनी में वो इंग्लैण्ड से शेक्सपीयर के नाटक बुलाते थे और उन नाटकों को छावनी में जो पारसी ठेकेदार गल्ला वगैरह सप्लाई करते थे। उन्होंने देखा और उसकी नकल में उन्होंने पारसी थिएटर स्टेबलिश किया, 1850 के आसपास और 1850 के बाद फिर उन्होंने नाटक किये। लेकिन वो नाटक जो थे, वो भारतीय संस्कृति से या भारतीय जन की आकांक्षाओं से उद्भूत नहीं थे। उनमें डॉयलॉग्स थे और आगाहश्र कश्मीरी, नारायणप्रसाद बेताब वगैरह ने शेक्सपीयर के नाटकों के अनुवाद किये। वो उनको स्टेज करते थे और उन्होंने अपने भी नाटक लिखे। उनकी ज़ुबान उर्दू होती थी क्योंकि उर्दू उस समय की रिस्पेक्टेबल लैंग्वेज़ मानी जाती थी। विशुद्ध उर्दू थी। फिर बाद में, 20वीं शताब्दी आते-आते उन लोगों को महसूस हुआ। वो किसी भी शहर में जाते थे। साल, दो साल, तीन साल में एक बार जाते थे, वहाँ नाटक करते थे और फिर वो टूरिंग कम्पनी की तरह करते थे। लेकिन जन-साधारण से, समाज से, वो हाशिये में ही थे। फिर जब 20वीं शताब्दी में, जब हिन्दी और उसी समय पारसी थिएटर के पैरलल हमारे बाबू हरिशचन्द्र जी ने भी कुछ नाटक लिखे, मगर वो नाटक बहुत पापुलर नहीं होते थे। एक शो कर लिया, दो शो कर लिया, उसके बाद वो समाप्त हो जाते थे। जनता में नहीं पहुँचे थे।

जयशंकर प्रसाद जी ने जो नाटक लिखे, बहुत अच्छे लिखे मगर मंच का उनका अनुभव नहीं था। उनके पास मॉडल पारसी थिएटर का था। उस मॉडल पर उन्होंने विशुद्ध हिन्दी में नाटक लिखे, मगर वह स्टेज नहीं हुए। कभी एकाध कोई नाटक हो गया। वैसे जयशंकर प्रसाद जी का चूँकि मंच से डायरेक्ट कान्टेक्ट नहीं था, जैसा कि आगाहश्र कश्मीरी वगैरह का था तो उनके नाटक मंच पर बहुत सफल नहीं हो पाते थे। जैसे मुझे एकांकी की याद आ रही है। जयशंकर प्रसाद जी का एक नाटक है- 'प्रायश्चित्त'। वो छः-सात पेज का नाटक है। उसमें चार-पाँच लोकेल्स हैं- कन्नौज के राजा का, गजनी के राजा का, एक रणभूमि का दृश्य, एक गंगा के किनारे का दृश्य है। मतलब वो जो नाटक लिखे थे, रंगमंच उनकी निगाह में नहीं था और पारसी थिएटर जनता से बहुत दूर था।

जब हिन्दी के नाटक पारसी थिएटर में शुरू हुए, उस सिलसिले में नारायणप्रसाद बेताब की ऑटोबायोग्राफ़ी मैंने पढ़ी। उसमें नारायणप्रसाद बेताब लिखते हैं, पारसी थिएटर में एक डॉयलॉग था, हिन्दी के नाटक में कि रामचन्द्र जी से सीता कहती हैं– 'हे राम, आप मिल गये, गोया मुझे ख़ुदा मिल गया।' इतना वर्चस्व था उर्दू का पारसी थिएटर में।

विनय उपाध्याय: दरअसल सीखने-समझने की बात है...

दयाप्रकाश सिन्हा: इसी सन्दर्भ में बात कर रहा हूँ। लेकिन जब 1930 के आसपास टॉकीज/सिनेमा आ गया तो पारसी थिएटर खत्म हो गया। जब 1947 में देश आज़ाद हुआ तो पारसी थिएटर समाप्त हो चुका था, हिन्दी थिएटर था नहीं, थिएटर सीन में सन्नाटा था। 47 के बाद जो जनरेशन हुई, उसमें कुछ उत्साह था कुछ नया करने का और उसमें एक अमेच्योर थिएटर मूवमेन्ट प्रारम्भ हुआ, जो सेल्फ़मेड था। 1955 में मैंने जो पहला नाटक किया तो हम लोगों को कोई प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं थी। 1960 में उन्होंने 'एशियन थिएटर इंस्टीट्यूट' क्रियेट किये। उसके पहले कहीं पर भी, कुछ भी थिएटर नहीं था। अमेच्योर थिएटर मूवमेन्ट था और आज भी, अभी भी अमेच्योर थिएटर मूवमेन्ट है। प्रोफेशनल थिएटर अभी उतना डेवलप नहीं हुआ है।

विनय उपाध्याय: बिल्कुल! उसके समानान्तर एक बड़ी दुनिया फल-फूल रही है...

प्रेमशंकर शुक्ल: मैं आपसे यह जानना चाहता था कि जैसे आपके नाटकों को जब पढ़ते हैं तो ऐतिहासिक और कुछ जो हमारी सामाजिक, पारिवारिक पृष्ठभूमि है वह भी आती है। 'कथा एक कंस की' है, जिसे आख्यानात्मक कह सकते हैं। उत्तरप्रदेश की लोककलाओं पर आपकी एक पुस्तक भी हमने पढ़ी थी। क्या कारण है कि लोककलाओं की जो मौजूदगी आपके नाटकों में होना चाहिए, उसकी एक गहरी अनुपस्थिति है। चूँकि वो बहुत ख़ूबसूरत किताब आपने लिखी उत्तरप्रदेश की लोककलाओं पर, तो ऐसा कैसे हुआ कि आपके नाटकों में लोककलाओं की उपस्थिति कमतर है?

दयाप्रकाश सिन्हा: देखिए, मैंने ईमानदारी से नाटक लिखे हैं और जिस चीज़ का मुझे अनुभव नहीं, मैं वो नाटक में कैसे डाल देता। क्योंकि हम लोग शहरी लोग थे और हमारा गाँव से कोई सम्बन्ध नहीं था। एक इन्ट्रेस्टिंग बात यह है कि हमारे परिवार के लोग दिल्ली में रहते थे, 1857 में भागकर ईस्टर्न यू.पी. में चले गये थे। जब ईस्टर्न यू.पी. में चले गये तो हमारे बाबा खड़ी बोली बोलते थे। बाबा के ताऊजी और हमारे पिताजी, वो लोग थोड़ी-थोड़ी अवधी बोलने लग गये। हमारी माताजी ब्रज प्रदेश की थी। तो हम लोग किसी एक क्षेत्र से सीमित नहीं हो सके। इसलिए फ़ैशन के लिए या लोककला पर लिखें, वो नहीं। जितने नाटक हैं चाहे ऐतिहासिक नाटक हों, चाहें पौराणिक नाटक हों, सामाजिक नाटक हों; कहीं न कहीं उसमें मैं मौजूद हूँ। जो मेरा अनुभव नहीं है, जिस जगत का मैं भाग नहीं हूँ, उसको मैं कैसे डाल देता! ईमानदारी से कहना चाहता हूँ।

कथा एक कंस की

प्रेमशंकर शुक्ला: आपके नाटकों का कैनवास इतिहास से बहुत ऊर्जा लेता है। बहुत ऊष्मा लेता है इतिहास की ज़मीन पर। हालाँकि उसमें यह भी देखता हूँ कि इतिहास उस तरह का इतिहास नहीं है। ज़मीन भले वहाँ से ली जाये, घटनाएँ वहाँ की होती हैं, लेकिन लगातार आप समकालीन बनाये रहते हैं और यही कारण है कि आपके नाटकों की लगातार लोगों में बहुत पैठ बनती है और लोग उसकी सराहना भी करते हैं। लेकिन मैं यह जानना चाहता था कि इतिहास के प्रति आपका अध्ययन या अध्यवसाय था, उसकी वजह से आप गये या क्या आपको खुद ऐसा लगता था, अपनी राइटिंग में, अपनी क्रियेटिविटी में कि उधर जाना है? क्या कम्फर्ट जोन मानकर आप इतिहास में चले जाते थे?

दयाप्रकाश सिन्हा: देखिए, ईमानदारी से मैंने कहा न! और मेरे जीवन के जो अनुभव हुए हैं और जैसे-जैसे मेरे अनुभव हुए, वैसे-वैसे मेरे लेखन में परिवर्तन आया। मेरा पहला नाटक है 'पीढ़ियों का संघर्ष'। मेरे पिता से मेरे जो डिफरेन्सेज थे, वो कहीं न कहीं पहले नाटक में आये हैं।

मैं जब सरकारी नौकरी में था, मैं राजनीति में भी था, तो मैंने व्यक्ति सम्बन्धों से उठकर समष्टि को देखने की कोशिश की है। युगों में जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, कैसे युग बदल जाते हैं। जैसे मैं मोहन राकेश से अपने आपको कम्पेयर करता हूँ तो ऐसा लगता है कि मोहन राकेश अपने चरित्रों को माइक्रोस्कोप में देख रहे हैं, उनकी डिटेल्स देख रहे हैं और मैं जब लिखता हूँ तो जैसे मैं किसी पहाड़ के ऊपर खड़ा हो जाऊँ और दूर देख रहा हूँ कि एक सेना इधर से आ रही है, एक सेना उधर से आ रही है, लोगों का मूवमेन्ट हो रहा है। मैंने समाज की, युग की प्रवृत्तियों को लाने की कोशिश की। लेकिन ये मेरे प्रारम्भिक नाटकों में नहीं था, बाद के नाटकों में आया। जितने ऐतिहासिक नाटक हैं, जिनका आप ज़िक्र करते हैं- 'कथा एक कंस की' या 'रक्त अभिषेक' या 'सम्राट अशोक' ये सब मेरे बाद की उम्र के नाटक हैं। पहले के नाटक सामाजिक नाटक हैं और जैसे-जैसे मेरे अनुभव होते गये, तो वे अनुभवों से जड़ित नाटक हैं।

विनय उपाध्याय: आपको नाटक की विधा में ही अपनी बात कहना क्यों सहज लगता रहा?

दयाप्रकाश सिन्हा: देखिए, मैंने कहानी क्यों नहीं लिखी, कविता क्यों नहीं लिखी? मैंने बताया न, शायद जीन्स का प्रभाव है ये। मैं नहीं बता सकता कि मुझे नाटक लिखना क्यों अच्छा लगता है। फिर मैं खाली नाटक ही नहीं लिखता, मैं नाटक के निर्देशन भी करता हूँ। मैं शायद एक्टर भी बनना चाहता था कभी किसी ज़माने में। जब मेरा नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा के फ़र्स्ट बैच में एडमीशन हो गया था, लेकिन उसी साल मैं रिसर्च करता था मेरा लंदन में एडमीशन हो गया था स्कॉलरशिप पर और उसी साल मैं लेक्चरर भी हो गया था इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में। घरवालों ने कहा- बाहर मत जाओ। मेरा भी साहस नहीं था।

मैं एक्टर के रूप में थिएटर में आना चाहता था और फिर एक्टिंग के साथ ही मुझे लगा कि मैं लिख सकता हूँ तो मैंने लिखा। 22-24 साल की उम्र में लिखा। 22 साल की उम्र में ग्रुप के साथ एक्टिंग भी की और इत्तेफ़ाक से संगीत नाटक अकादेमी ने 1959 में एक 'ऑल इण्डिया ड्रामा फेस्टीवल' करवाया था। उस फेस्टीवल में उन्होंने हमारा नाटक इनवाइट कर लिया। तो अब 24 साल की उम्र में लेखक, निर्देशक, हीरो बनकर

अभिनेता, लेखक और निर्देशक

मैं एक्टर के रूप में थिएटर में आना चाहता था और फिर एक्टिंग के साथ ही मुझे लगा कि मैं लिख सकता हूँ तो मैंने लिखा। 22-24 साल की उम्र में लिखा। 22 साल की उम्र में ग्रुप के साथ एक्टिंग भी की और इत्तेफ़ाक से संगीत नाटक अकादेमी ने 1959 में एक 'ऑल इण्डिया ड्रामा फेस्टीवल' करवाया था। उस फेस्टीवल में उन्होंने हमारा नाटक इनवाइट कर लिया। तो अब 24 साल की उम्र में लेखक, निर्देशक, हीरो बनकर दिल्ली में आये और वहाँ पर कुछ बच्चों और कुछ लोगों ने ऑटोग्राफ़ भी माँग लिया तो लगा कि अरे!

दूसरी चीज़ यह भी है, अगर आपको नाटक में रुचि है- मैंने अक्सर कहा भी है कि नाटक में एक शब्द है 'स्टेज स्टक'। 'स्टेज स्टक' का मतलब ये है कि आप अतार्किक रूप से जुड़े हैं। कोई तर्क नहीं है, तर्कहीन है। जैसे प्रेम करता है आदमी तो वह कुछ बता नहीं सकता कि इससे क्यों प्रेम करें या इसी से क्यों प्रेम करें? आज जो भी नाटक से प्रेम करता है, उसका प्रेम थिएटर से वैसा ही होता है- अतार्किक।

ओ अमरिका

दिल्ली में आये और वहाँ पर कुछ बच्चों और कुछ लोगों ने ऑटोग्राफ़ भी माँग लिया तो लगा कि अरे! दूसरी चीज़ यह भी है, अगर आपको नाटक में रुचि है- अक्सर कहा भी है कि नाटक में एक शब्द है 'स्टेज स्टक'। 'स्टेज स्टक' का मतलब ये है कि आप अतार्किक रूप से जुड़े हैं। कोई तर्क नहीं है, तर्कहीन है। जैसे प्रेम करता है आदमी तो वह कुछ बता नहीं सकता कि इससे क्यों प्रेम करें या इसी से क्यों प्रेम करें? आज जो भी नाटक से प्रेम करता है, उसका प्रेम थिएटर से वैसा ही होता है- अतार्किक।

विनय उपाध्याय: एक तो आपकी नाटककार, निर्देशक की पहचान है आपको और दूसरा एक सांस्कृतिक प्रशासक के रूप में भी देश आपको जानता रहा है। बहुत सारी संस्थाएँ सरकारी-ग़ैरसरकारी, जिनकी प्रशासनिक कमान आप सँभालते रहे और उच्च पदों पर आप रहे। देश के सांस्कृतिक हालात आपको कैसे लगते हैं?

दयाप्रकाश सिन्हा: मेरे ख्याल से सांस्कृतिक क्षेत्र में सरकार की भूमिका केवल ये होनी चाहिए कि वह इंफ्रास्ट्रक्चर क्रियेट करे, सारी भौतिक सुविधाएँ प्रदान करे। अनुदान भी। थोड़ी-बहुत मदद होनी चाहिए लेकिन इंफ्रास्ट्रक्चर के रूप में। क्योंकि आज जैसी पॉलिसी है, जिसके भीतर आप कलाकार को, क्रियेटिव पर्सन को डिपेंडेंट बना देते हैं कि ग्राण्ट मिलेगी तो नाटक करेंगे, ग्राण्ट नहीं मिलेगी तो नाटक नहीं करेंगे। तो इससे क्रियेटिव चीज़ें हैंगओव्हर होती हैं, स्पांटिनिटी इफेक्ट होती हैं। ये जो व्यवस्था थी फैलोशिप और रेपर्टरी कम्पनी की, व्यवस्था रूस से इंस्पायर रही। सातवें दशक में इन योजनाओं का विस्तार किया गया। उस ज़माने में तो डबल रोटी भी सरकार बनाती थी, दूध भी सरकार बेचती थी, टी बोर्ड था, चाय भी सरकार करती थी। ये सब कुछ सरकार अपने ऊपर ले रही थी और उसी में वो संस्कृति भी कर रही थी। ये उसका हैंगओव्हर है। उनको बेसिक इंफ्रास्ट्रक्चर प्रोवाइड करना चाहिए।

विनय उपाध्याय: एक प्रशासक के रूप में आप अपनी भूमिका को किस तरह देखते है?

दयाप्रकाश सिन्हा: देखिए, प्रशासक के रूप में जहाँ भी था, कहीं न कहीं मैंने जो योगदान कर सकता था, किया। चाहे नाटक के क्षेत्र में हो, चाहे संगीत के क्षेत्र में हो, चाहे नृत्य के क्षेत्र में हो। जैसे दिल्ली में था तो मैंने स्कॉलरशिप की योजना बनायी और आज बहुत बड़े-बड़े नाम हैं, वो कल के कलाकार, उन्होंने 300/- रुपये की स्कॉलरशिप ली हमसे। वो बहुत बड़ी बात होती थी। दिल्ली में तमाम बड़े-बड़े नाम हैं। सबको प्रमोट किया।

विनय उपाध्याय: चली आ रही परिपाटी से कुछ भिन्न जो आप कर पाये और उसके लिए आपको एक स्ट्रगल भी शायद करना पड़ा हो!

दयाप्रकाश सिन्हा: नहीं। मैंने बहुत काम किया। हर क्षेत्र में काम किया। मेरे दिमाग में यह था कि हमें ऐसी योजना इम्प्लीमेंट करनी चाहिए जो उभरते युवाओं के लिए हो। एक उनकी हो जो स्ट्रगल कर रहे हैं, जो 20-21-22 के हैं, उनको भी सपोर्ट मिलना चाहिए और जो स्थापित कलाकार हैं उनकी ज़रूरतें क्या हैं या जो कलाकार रिटायर हो गये हैं उनकी क्या ज़रूरते हैं? ये सब सोचकर मैंने योजनाएँ बनायीं और उनका इम्प्लीमेंट भी किया।

उत्तरप्रदेश में हमने वृन्दावन में 'वृन्दावन सृजन उत्सव' किया। एक तो यह है कि आप नित्य समारोह आयोजित करिये, कलाकारों से नृत्य करवाइये, लेकिन उसके पीछे मेरी दृष्टि यह थी कि इससे देश की जो सांस्कृतिक एकता है वो भी रेखांकित होनी चाहिए। इसलिए वृन्दावन में मैंने कोशिश ये की कि कृष्णकथा से सम्बन्धित जितने लोग हैं वो देश के विभिन्न कोनों से एक मंच पर प्रस्तुत हों। इसी तरह जब मैंने अयोध्या में 'रामायण मेला' करवाया, तो मेरी कोशिश यही थी कि चाहे वो पारम्परिक रामलीला हो, चाहे उदयशंकर शैली की क्रियेटिव रामलीला हो, चाहे विदेशी रामलीलाएँ हों! रामलीला ही इस मंच पर प्रस्तुत करें। वहाँ पर 'अयोध्या शोध संस्थान' भी बनवाया जो हर दिन 'रामलीला' करवाता है। वह मेरी योजना थी। वो अच्छा काम कर रहे हैं।

सिनेमा में आदमी अपने आकार में बहुत बड़ा दिखाई देता है, टेलीविज़न में आकार से छोटा दिखलाई पड़ता है लेकिन थिएटर में वह अपने आकार का दिखाई देता है, इसलिए थिएटर का चार्म हमेशा बना रहेगा।

इसी प्रकार हमने बनारस में 'गंगा उत्सव' करवाया। बनारस में एक राजेन्द्रघाट है, 1986 में मैंने वहाँ 'गंगा उत्सव' पहली बार करवाया, जो अब बराबर हो रहा है। जब मैं बनारस गया और राजेन्द्रघाट पर मैंने जो सीढ़ियाँ देखीं तो मैंने कहा कि ये तो बना-बनाया एम्फी थिएटर है। दर्शकों को सीढ़ियों पर बिठाया। गंगा में मैंने पानी के ऊपर एक प्लेटफॉर्म बनवाया परफॉर्मेन्स के लिए और दोनों तरफ बनारस के राजा साहब के दो बजरे लगवा दिये, जिसमें आर्टिस्ट नेपथ्य के रूप में काम करें, आर्टिस्ट स्टेज पर एण्टर करके परफॉर्मेन्स करें। ये 'गंगा उत्सव' हुआ। उसके बाद उत्तरप्रदेश सरकार ने वहाँ एक स्टेज बनवाया जिसमें प्रधानमंत्री तक हो आए। ये इनोवेटिव योजनाएँ बनायीं, संगीत, नृत्य तथा अन्य कला के लिए।

मैंने अन्तर्राष्ट्रीय रामायण पर एक 'अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार' ऑर्गेनाइज़ करवाया और उस पर किताब भी छपवायी। बहुत मोटी सी, कलरफुल किताब। इसमें 16 विदेशी विद्वान बुलवाये थे और 20-22 देशों के विद्वान थे। उसका विषय था- 'नेशनल कल्चर्स ऑफ़ एशिया'। मतलब रामायण जो है वो भारत की ही नहीं है, अब जैसे थाईलैण्ड में उसकी राष्ट्रीय संस्कृति है। उनकी परम्परा का भाग बन गयी। बहुत सफल हुआ वो पहला सेमिनार। लखनऊ में 'रामायण समारोह' करवाया था। तो मेरा रिसर्च ओरिएण्टेड बीईंग रहा। जब भी मैं काम करवाता था तो उसको अपनी परम्परा से जोड़ने की कोशिश करता था।

विनय उपाध्याय: सिन्हा जी, इसी तारतम्य में ज़िक्र भारत भवन का। आप यू.पी. कैडर के प्रशासक रहे हैं लेकिन बहुकला केन्द्र भारत भवन में आपकी आमद हुई। भारत भवन में जिन परिस्थितियों में, जिस समय आपका आना हुआ, तब आपके सामने क्या चुनौतियाँ थीं और आपने भारत भवन आकर यहाँ के इस पूरे स्थापत्य को और यहाँ की चुनौतियों को, यहाँ की चली आ रही परम्पराओं को किस तरह से देखा? अपनी तरह से क्या क्रियेट किया?

दयाप्रकाश सिन्हा: देखिए, जब मैं भारत भवन आया तो मैं यह सोचकर नहीं आया था कि मैं सब कुछ ठीक-ठाक कर दूँगा। जो कुछ पुराना है उसको हटा दूँगा। मैंने सोचा था कि जो अच्छा था उसको डिटेन करूँगा और अगर कोई चीज़ अच्छी नहीं है तो उस पर नयी चीज़ लाने की कोशिश करूँगा। वो ही किया। जो कुछ भी अच्छा था वो किया और चूँकि थोड़ा-सा बदनाम भी हो गया था, कुछ कण्ट्रोवर्सी भी हो गयी थी भारत भवन को लेकर। तो मेरे पास चैलेन्ज नहीं था कि

उसको पुनः प्रतिष्ठित करें और चूँकि मेरे पास वर्षों का अनुभव था, कलाकारों से परिचय था और करीब-करीब हर क्षेत्र में अनुभव था। तो समस्या नहीं हुई। मुझे यहाँ बहुत से सृजनधर्मियों का अगाध प्रेम और विश्वास भी मिला।

विनय उपाध्यायः आप पचास के दशक से बहुत सक्रिय हो गये रंगमंच पर। थिएटर उस समय और थिएटर आज, क्या परिवर्तन देखते हैं, कौन-सी चुनौतियाँ हैं? इधर शौकिया रंगमंच काफी समृद्ध हुआ है, बहुत सरगर्मियाँ बढ़ी हैं लेकिन जो थिएटर का चेहरा था हमारा, परम्परा से आया हुआ काफी बदल सा गया है। संस्कृत के रंगमंच की परम्परा, फिर उसमें लोक का संश्लेष हुआ, पारसी थिएटर का प्रभाव और उसके बाद संसाधनों की बहुतायत। थिएटर के आसपास अनुदान भी आ गया।

सीढ़ियाँ

दयाप्रकाश सिन्हाः मैं समझता हूँ विनय कि आज एक 'वर्ल्ड कल्चर' डेवलप हो रहा है। मानें, चाहे न मानें, लेकिन 'वर्ल्ड कल्चर' डेवलप हो रहा है। आज जो विश्व में किसी भी देश में श्रेष्ठ है वो विश्व की संस्कृति का एक भाग बन रहा है। चाहे चायनीज़ फूड हो या यूरोपियन जीन्स हो या भारतीय योग है। ये विश्व संस्कृति का एक भाग है और साथ ही साथ इस विश्व संस्कृति में अर्बनाइज़ेशन भी। जैसे-जैसे अर्बनाइज़ेशन बढ़ता चला जायेगा वैसे-वैसे ट्रेडीशनल कल्चर धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगा।

देखिए, मेरा व्यक्तिगत अनुभव है। जब मैं 'वृन्दावन सृजन उत्सव' कर रहा था, तब देखा कि एक 'चरपरा नृत्य' होता है जिसमें सिर पर पहिया रखकर औरत नाचती है। चूँकि इस 'उत्सव' में पूरे देश से कलाकार आ रहे थे, जो कृष्ण सम्बन्धी नृत्य प्रस्तुत कर रहे थे तो एक दिन मैंने कहा कि इसमें कुछ स्थानीय प्रतिभागिता भी होनी चाहिए। तो 'चरपरा' बुलाओ। वहाँ एक मुखरिया गाँव है, वहाँ पर पता लगा कि एक औरत ये नृत्य करती है। जब वहाँ गये तो हमारे लोगों को उन्होंने बताया कि हम तो नहीं नाचेंगे। हमारी औरत कोई नाचने वाली है जो लोगों के आगे नाचेगी? ये तो घर-आँगन में नाचती है। फिर हमने उनको कहलवाया कि हम मन्दिर के प्रांगण में कर रहे हैं, भगवान की मूर्ति के आगे नृत्य कर रहे हैं, हम लोग नृत्य की आध्यात्मिकता को पुनः रेखांकित करने की कोशिश कर रहे हैं, आ जाओ। तो वह किसी तरह से आयी और वो नृत्य टेलीकास्ट हुआ। अगले साल हमने 'त्रिपुरा दंगल' एनाउन्स किया और कहा कि जो भी बेस्ट होगा उसको दस हज़ार रुपये देंगे। उस समय दस हज़ार रुपये बहुत होते थे। तो सात औरतें जिन्होंने नाचना छोड़ दिया था वो आ गयीं। इस तरह से वो नृत्य रिवाइव हो गया।

लेकिन हम यह जानते हैं कि धीरे-धीरे ये सब समाप्त हो जायेगा, क्योंकि शहर जो है वो गाँव पहुँच रहा है। वहां लड़कियाँ जीन्स पहने नज़र आती हैं। जैसे अमेरिका में गाँव नहीं हैं। आज 500 किलोमीटर चले जाइए, आपको वहाँ एक बड़ा शहर मिलेगा। अर्बनाइज़ेशन तो हमारे आने वाले वक्त का सच है ही।

बहरहाल, ये जो हमारे लोक की विधाएँ हैं, ये हमारी विरासत हैं। इसको प्रिज़र्व करने की आवश्यकता है। इसको कैसे प्रिज़र्व किया जाए, ये समस्या है। क्योंकि धीरे-धीरे तो ये समाप्त होंगी ही, इसको कोई रोक नहीं सकता। उसके लिए हमने कोशिश यह की कि जो लोकनृत्य हैं, उसके जो गुरु हैं, उनको हम स्कूल से अटैच कर दें और वह लड़कियों को सिखायें ताकि वो अथेन्टिक डांस शहरी लड़कियाँ कर सकें। गाँव समाप्त भी हो जायें तब भी यह नृत्य रहेगा, उनकी परम्पराएँ रहेंगी।

रक्त अभिषेक

विनय उपाध्याय: सर, मैं थिएटर की बात कर रहा था। आपने ही कहा है कि थिएटर क्यों अन्य कलाओं से ऊपर है? मतलब सिनेमा और दूरदर्शन की आभासी दुनिया हमारे सामने है लेकिन थिएटर सबसे ज़्यादा जीवन्त विधा है। सबसे लोकतांत्रिक, डेमोक्रेटिक इसको माना जाता है कि जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा। ये पूरी की पूरी इबारत जीता है। लेकिन क्या थिएटर भी अपनी जड़ों से उखड़ रहा है?

दयाप्रकाश सिन्हा: मेरा ख्याल है कि सिनेमा भले ही नहीं बचेगा, थिएटर बचा रहेगा। क्योंकि टेक्नॉलॉजी में जिस तरह के इनोवेशन हो रहे हैं, सिनेमा जैसी चीज़ को देखना होगा तो वह मोबाइल पर देख लेगा। क्योंकि ये तो आर्टिफिशियल मीडियम हैं जिसके जरिये हम देखते हैं। जैसे कोई कह रहा था कि 'नेटफ्लिक्स' का ज़माना आ रहा है। अमेरिका में भी हमारा अनुभव यह था कि अब लोग फ़िल्म कम देखने जाते हैं। थिएटर जाना एक रिस्पेक्टेबिलिटी की निशानी है। थिएटर का टिकिट अमेरिका में बहुत महँगा है और सिनेमा का टिकिट बहुत सस्ता है। लोग अपने घर में बैठकर सिनेमा देखेंगे। बाहर जाकर देखने की क्यों तकलीफ करेंगे! लेकिन जो थिएटर का चार्म है वो जीवन्त इन्टरैक्शन विद द एक्टर। सिनेमा में आदमी अपने आकार में बहुत बड़ा दिखलाई पड़ता है, टेलीविजन में आकार से छोटा दिखलाई पड़ता है लेकिन थिएटर में वह अपने आकार में दिखलाई पड़ता है, इसलिए थिएटर का चार्म हमेशा बना रहेगा।

विनय उपाध्याय: लेकिन सिन्हाजी, एक ओर राजधानियों का, महानगरों का रंगकर्म है जो पर्याप्त और अनुकूल संसाधनों के बीच परवरिश पाता है। 'भारंगम' और 'थिएटर ओलम्पियाड' जैसे मेगा इवेंट हमारे सामने है। दूसरी तरफ संघर्षशील रंगकर्मी हैं जो थिएटर को बचाने के लिए प्राणपण से जुटे हुए हैं। ये जो विभाजन है हमारे यहाँ, सुविधाओं को लेकर, संसाधनों को लेकर जो कसमसाहट है और मैं देखता हूँ कि दो-तीन तरह की लेयर्स बन गयी हैं रंगकर्म को लेकर। क्या कहना है?

दयाप्रकाश सिन्हा: देखिए, बड़े शहर में और छोटे शहर में तो अन्तर है ही। सभी तरह का अन्तर है। सड़कों का अन्तर है, सुविधाओं का अन्तर है, सिनेमा हॉल का अन्तर है। मेरा तो यह ख्याल है कि सरकार के ग्राण्ट आधारित नाटक होने ही नहीं चाहिए। नाटक तो लोक द्वारा सपोर्टेड होना चाहिए। ये आइडियल कण्डीशन है। 'भरत नाट्यशास्त्र' में भी कहा गया है कि नाटक को लोकपरक होना चाहिए। संगीत नाटक अकादेमी का डायरेक्शन था कि हम उन नाटकों को मान देंगे जिसके भीतर कोई लोक का तत्व होगा। नतीजा यह हुआ कि ग्राण्ट लेने के लिए शहर के लोगों ने ज़बरदस्ती का डाल दिया। कलाकार गाना जानें, चाहे न जानें, लोकधुन जानें, न जानें। 1970 में जितना हुआ थिएटर को उतना कभी नहीं हुआ, क्योंकि लोग थिएटर हॉल से बाहर चले गये।

प्रेमशंकर शुक्लः आपने हिन्दी के कई नाटक लिखे। आप क्या महसूस करते हैं इतना सब करके भी कुछ लिखने-कहने से बाकी रह गया?

दयाप्रकाश सिन्हाः नहीं, नहीं। ऐसा है कि आयु के साथ आदमी अपनी सीमाएँ भी जानता है। कबीर कहते हैं- 'रहना नहीं देश बेगाना है'। वह जानता है कि आदमी का एक अन्त आना है। कभी तो छोड़ना ही पड़ेगा। आदमी कब तक मोह कर सकता है पद से या अपने काम से! सबको छोड़ना पड़ता है। चूँकि मैं नाटककार हूँ, 'सम्राट अशोक' में जो मैंने भूमिका लिखी या 'सम्राट अशोक' के जो डॉयलॉग हैं कि 'मैं जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो अपने जीवन का आदि देखता हूँ।' अन्त के साथ आदि भी देखता हूँ। आदि और अन्त एक साथ देखता हूँ। जब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो जीवन का आदि ही नहीं देखता, जीवन का अन्त भी देखता हूँ। क्योंकि जीवन के जन्म के साथ ही मृत्यु जुड़ी हुई है। तो द्वैत है सुख और दुख का, जीवन और मृत्यु का। इतने नाटक लिखने के बाद तो इतना वैराग्य भाव होना ही चाहिए।

मैं जयशंकर प्रसाद जी को ट्रिब्यूट भी देना चाहता हूँ। 'चन्द्रगुप्त' नाटक लिखने के पहले जयशंकर प्रसाद जी ने बहुत रिसर्च की थी। मोहन राकेश का कालिदास पर एक नाटक है 'आषाढ़ का एक दिन'। मुझे यह लगा कि ये गलत है। जो हमारे चरित्र हैं, ऐतिहासिक चरित्र हैं, सम्मानित चरित्र हैं उनको आप अपनी भावनाओं में कैसे डाल सकते हैं। 'सम्राट अशोक' की भूमिका में मैंने लिखा है- कि मैंने ऐतिहासिक नाटक लिखने में जयशंकर प्रसाद जी से प्रेरणा ली है। रिसर्च करके लिखा है, कुछ यों ही नहीं, और ये ही होना भी चाहिए। ऐसा नहीं कि आप अपनी बात कहें, जैसे कि मुझे बहुत तकलीफहुई थी जब लक्ष्मीनारायण लाल का 'सूर्यमुख' नाटक देखा। अंग्रेज़ी में एक नाटक था 'इडिपस', सोफोक्लीज़ का, उसमें पुत्र अपनी माता से प्रेम करता है। कुछ इस तरह का सम्बन्ध है। उन्होंने 'सूर्यमुख' के भीतर कृष्ण की एक उपपत्नी क्रियेट कर दी, रेणु थी या कोई इस तरह की और बेटा उससे प्रेम करता है। उन्होंने मिथ क्रियेट कर दिया, लेकिन मिथ क्रियेट तो नहीं हो सकता न! मिथ का इन्टरप्रिटेशन हो सकता है। मैंने मिथ नहीं क्रियेट किये। मैंने मिथ के इन्टरप्रिटेशन किये हैं।

जैसे मैं 'कथा एक कंस की' लिख रहा था। मैंने कंस के माध्यम से इस संसार में जितने डिक्टेटर हुए हैं, सबके मनोविज्ञान का अध्ययन करने की कोशिश की।

जब भी मैं ऐतिहासिक नाटक लिखता हूँ या पौराणिक नाटक लिखता हूँ, व्यापक अध्ययन के बाद लिखता हूँ। मेरा एक नाटक है 'रक्त अभिषेक'। वो बाईस साल पुरानी कथा है लेकिन वो अगर आज की कथा न लगे तो नाटक लिखने का कोई मायने नहीं है। तो इतिहास को, पुराण को मैंने आज के सन्दर्भ में रूपायित करने की कोशिश की।

प्रेमशंकर शुक्लः उस अर्थ में ऐतिहासिक वो नहीं है, जिस सघन अर्थ में ऐतिहासिक हैं। उसी सघन अर्थ में समकालीन भी हैं। आपने सचमुच में कोशिश की है। हमारे आज के जो प्रश्न हैं, उनसे आपने नाटकों में टकराने की कोशिश की है। बल्कि कहना चाहिए कि राइटर की खुद की अपनी ज़िम्मेदारी भी होती है।

मैं यह ज़रूर जानना चाहता था, आपके नाटकों को पढ़कर ऐसा लगता है कि इतिहास आपका प्रिय विषय रहा है। मतलब आपके नाटक अतीत और आज के बीच बहुत आवाजाही करते हैं। एक और खूबसूरत चीज़ मैं जोड़ना चाहता हूँ कि जो पात्र की मनोग्रन्थि है उसको बहुत कौशल से पकड़ने का आप में जज़्बा भी है। आप ले आते हैं उसको। चलिए, अभी 'कथा एक कंस की' की बात हो रही थी तो मनोवैज्ञानिक धरातल पर कंस क्या है? उसको भी आपने तब छू लेने की, उसको ला लेने की कोशिश की और एक कुशल नाटककार का ये लक्षण भी है। मतलब अतीत से कुछ खाद-पानी लेकर आज को बुनने की आप कोशिश करते हैं। ऐसा क्या है? क्यों आप ऐसा करते हैं?

> **हमारा रंगमंच तो अभी भी अमेच्योर है। अभी प्रोफेशनल नहीं है। यही तो उसकी आज समस्या है। जब भी प्रोफेशनलिज़्म आयेगा, लोगों की रोज़ी-रोटी थिएटर पर डिपेण्ड करेगी। ग्राण्ट पर डिपेण्ड नहीं करेगी, जनता पर डिपेण्ड करेगी तो हर ग्रुप का आत्मविश्वास बढ़ेगा।**

रक्त अभिषेक

दयाप्रकाश सिन्हा: देखिए, मैं ही नहीं करता, सभी करते हैं। जो अच्छे नाटककार हैं, जो ऐतिहासिक नाटक लिखते हैं वो इतिहास के माध्यम से आज को ही रूपायित करने की कोशिश करते हैं। सभी लोग ऐसा करते हैं। ये आसान हो जाता है। किसी भी नाटककार के लिए बहुत आसान है। क्योंकि वो बने-बनाये चरित्र हैं और दर्शकों में इसकी स्वीकार्यता पहले से है, फिर उनका इन्टरप्रिटेशन करना बहुत आसान हो जाता है। ये कोई जासूसी नाटक तो है नहीं कि आपको अन्त नहीं बताना पड़ेगा। सब जानते हैं। जैसे रामकथा सब जानते हैं, फिर भी रामकथा देखते हैं। अन्त सबको मालूम है कि क्या होगा, सब देखते हैं। इसी तरह से ऐतिहासिक नाटक में भी सब जानते हैं कि चरित्र कैसा है मगर उनके माध्यम से अपनी बात कहना थोड़ा आसान होता है किसी भी नाटककार के लिए।

प्रेमशंकर शुक्ल: आप देखिए, एक तरफ 'सीढ़ियाँ' है, एक तरफ 'सम्राट अशोक' है या 'रक्त अभिषेक' है और एक नाटक 'सादर आपका है'। मैं देखता हूँ कि भाषा को लेकर आपने काम किया है। नाटकों की भाषा- जैसे 'सीढ़ियाँ' की भाषा खुद अपनी संस्कृति लेकर आती है। तो उसको क्रियेट करने के लिए आपने किस तरह के उद्यम किये, आपकी क्या परिकल्पना रही? जैसे 'सीढ़ियाँ' को आपने किया तो उस पूरे माहौल को क्रियेट करने के लिए उसी तरह की भाषा लायी गयी। 'रक्त अभिषेक' में भी यही कोशिश दिखती है। 'सादर आपका है' में भी। इस भाषा के लेवल पर एक नाटककार के रूप में आपका अपना आत्मसंघर्ष क्या है?

दयाप्रकाश सिन्हा: मेरे ख्याल से सभी नाटककार ये करते होंगे। देखिए, आपको उस युग का वातावरण बनाना होता है। इत्तेफ़ाक से मैं उर्दू भी जानता हूँ। हमने 'सीढ़ियाँ' नाटक लिखा। उसकी ज़ुबान उर्दू है। पूरी की पूरी उर्दू है। शीन कॉफ़ दुरुस्त है जैसा लोग कहते हैं। तो शीन कॉफ़ दुरुस्त है तो मैं उर्दू लिख लेता हूँ।

मेरे ऐतिहासिक नाटक ज़्यादा नहीं हैं। ऐतिहासिक नाटक ज़्यादा मशहूर हो गये हैं। आपने जो तीन-चार नाम लिये हैं, ये ही ऐतिहासिक नाटक या पौराणिक नाटक हैं। और मैंने 'इतिहास-चक्र' लिखा। 'इतिहास-चक्र' एण्टी-वॉर पर है। उसे मैंने चरित्र माना है। कुबेर है, राजा है, मोहिनी है, पत्रकार है, अनामी कॉमनमेन है। उसमें मैंने दिखलाया है कि युद्ध के पहले

सब लोग कितने खुश हैं। जब युद्ध होता है तो राजा अपना एम्पायर बनाने की कोशिश करता है, बेल्डर कहता है– 'चूँकि देश में अराजकता है इसलिए मैं तुम्हारा डिक्टेटर बन जाता हूँ।' कुबेर ब्लैकमेड कहता है। पहले अख़बार वाले और उसकी पत्नी की बोलचाल नहीं होती, लेकिन जब लड़ाई शुरू हो जाती है और न्यूज आ रही है तो फट–फट बातें होने लग गयी हैं। इस सब प्रोसेस में सब प्रॉस्पेक्ट्स हैं लेकिन कॉमनमेन सफर करता है और इसको मैंने पूरे 'इतिहास–चक्र' में किया है। इसके बहुत शो हुए हैं। और, समय के हिसाब से मैंने एक नाटक लिखा था– 'ओ अमेरिका'। अभी मैंने उसका नाम बदलकर कर दिया– 'राग विदेशी'। मैं जनपथ पर जा रहा था, मैंने देखा कि एक अमेरिकन लड़की लहंगा–बहंगा पहने हुए और हरे कृष्णा का दुपट्टा ओढ़े हुए खड़ी है और एक हिन्दुस्तानी लड़की कोट–पेंट पहने हुए खड़ी है और दोनों एक दूसरे को देख रही हैं। मुझे बहुत अच्छा लगा और मैंने हिप्पीज़ का थोड़ा लिटरेचर पढ़ा। मैंने उसका नाटक लिखा। मुझे ख्याल आया कि ये तो हम आज अमेरिका की नकल कर रहे हैं। पहले अंग्रेज़ों की नकल कर रहे थे हमारे माता–पिता और उसके पहले मुसलमानों की नकल करते थे। एक बड़ा प्रसिद्ध संगीत सुना था– 'काबुल गये मुग़ल हो आये, बोले मुग़ली बानी/ आब–आब करते मर गये लल्ला खतिया तले था पानी।' उस ज़माने में– मुसलमान के ज़माने में– कोई आदमी पर्शियन बोलने लग गया होगा, जैसे हमारे यहाँ बाद में अंग्रेज़ी बोलने लग गये, और रौब जमाने के लिए वह अपने गाँव वालों से पर्शियन में बोलने लगा और उसको जब लू गयी तो बजाय पानी माँगने के वह 'आब–आब' माँग रहा था और गाँव वाले समझे नहीं और वह मर गया। ये जो हमारी परम्परागत प्रकृति है अपने मालिकों की नकल करने की, उस पर ये कटाक्ष था। मैंने देखा तो उससे इंस्पायर होकर ये नाटक लिखा।

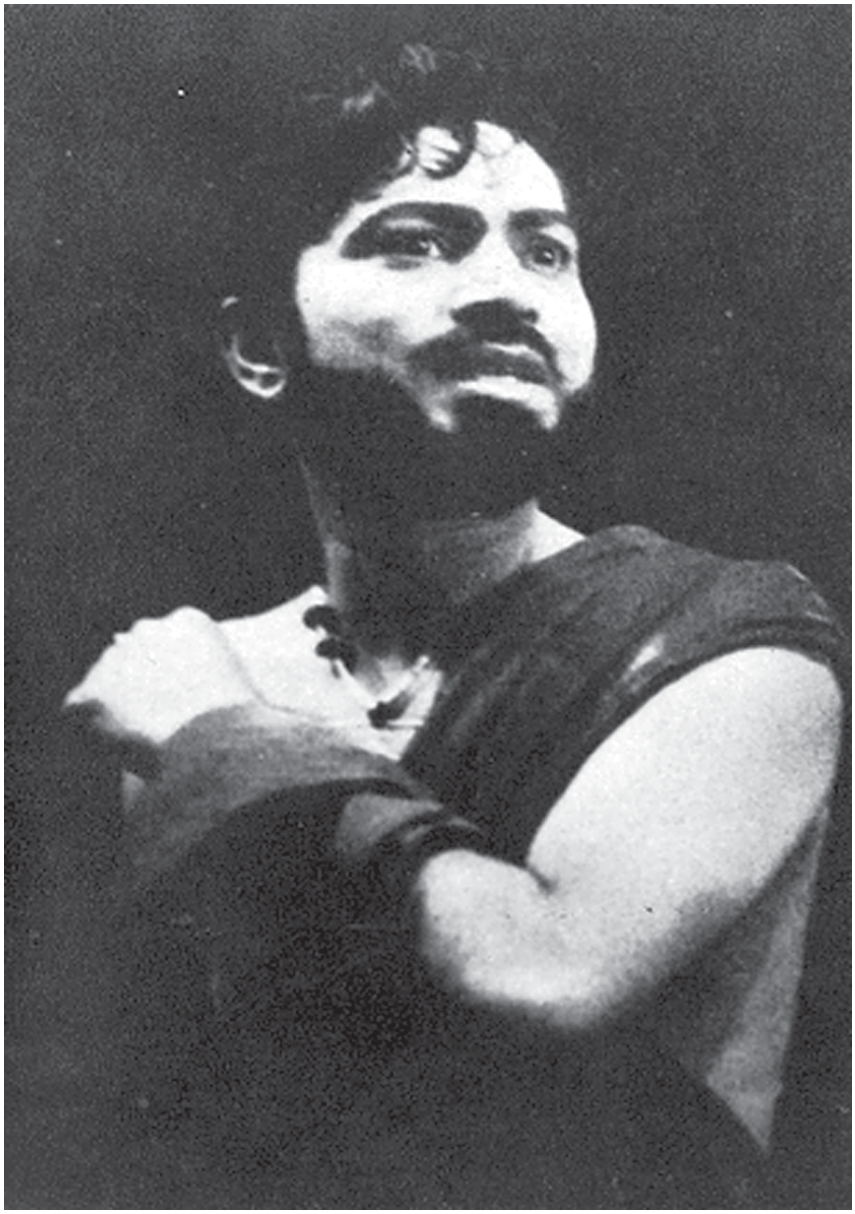

मेरा पहला नाटक 'साँझ–सवेरा' था। उसमें पीढ़ियों का संघर्ष है, उसमें वेल्यूज़ का संघर्ष है। हमारे पिताजी बहुत ईमानदार थे। एक पैसा रिश्वत नहीं लेते थे। असिस्टेंट कमिश्नर थे एक्साइज डिपार्टमेंट में। वहाँ बहुत रिश्वत चलती थी। वो अकेले ईमानदार थे। उस नाटक में यही है कि वो पीढ़ियों का संघर्ष है। तो वेल्यूज़ का संघर्ष, एक तो आज की मर्सीनरीज़ वेल्यूज़ और दूसरी टाइमलेस वेल्यूज़। उसका संघर्ष मैंने दिखलाया। दूसरी चीज़ यह है कि नाटक के पीछे एक आइडिया भी होता है। नाटक में खाली चरित्र ही नहीं होते, लेकिन हम क्या कहना चाहते हैं वो बड़ा महत्तवपूर्ण है। मेरे हिसाब से नाटक में तीन

एलीमेंट्स डोमिनेट करते हैं- एक तो पीपुल, एक घटना और एक आइडिया। मेरे प्रत्येक नाटक में विचार महत्तवपूर्ण है, वो चाहे ऐतिहासिक नाटक हो, चाहे सामाजिक नाटक हो।

विनय उपाध्याय: क्या नाटक की आलोचना ठीक अर्थों में हो पायी या हो रही है?

दयाप्रकाश सिन्हा: नाटक समीक्षक हैं ही नहीं। नाटक की समीक्षा होती ही नहीं है और दिल्ली में तो समाचार पत्रों ने समीक्षा बन्द ही कर दी है। बहुत कम। एक 'हिन्दू' में होती है और एकाध और किसी अख़बार में होती है। छोटे नगरों में भी होती है तो वो खाली रिपोर्टिंग होती है, समीक्षा नहीं होती है।

विनय उपाध्याय: .... और हमारा रंगमंच भी अभी पूरी तरह प्रोफेशनल नहीं हुआ?

दयाप्रकाश सिन्हा: हाँ, हमारा रंगमंच तो अभी भी अमेच्योर है। अभी प्रोफेशनल नहीं है। यही तो उसकी आज समस्या है। जब भी प्रोफेशनलिज़्म आयेगा, लोगों की रोज़ी-रोटी थिएटर पर डिपेण्ड करेगी। ग्राण्ट पर डिपेण्ड नहीं करेगी, जनता पर डिपेण्ड करेगी तो हर ग्रुप का आत्मविश्वास बढ़ेगा।

अभी क्या होता है, कि हर निर्देशक चाहता है कहीं से एडॉप्ट करके एक नाटक कर लें, नाम भी अपना दे दें, फिर उसके साथ ही नाटक भी समाप्त हो जाते हैं, नाटककार भी समाप्त हो जाता है। अब चाहे नारायणप्रसाद बेताब हों या आगाहश्र कश्मीरी हों या और भी। इनको 'मुंशीजी' कहते थे उस ज़माने में, पारसी थिएटर में, लेकिन ये लोग जुड़े रहते थे नाटक से। मैं कल सोच रहा था कि नाटक जब लिखते हैं, अगर उसी समय देख लें कि क्या कर रहा है तो मैं अपनी स्क्रिप्ट चेंज कर सकता हूँ या अपनी स्क्रिप्ट के हिसाब से कहूँ कि ये नहीं ये करो। ग्रुप में जिस तरह से एक लाइटमेन होता है, साउण्डमेन होता है।

विनय उपाध्याय: 2005 में आपका 'रक्त अभिषेक' आया उसके बाद?

दयाप्रकाश सिन्हा: 2005 के बाद मैंने 2014-15 में एक नाटक लिखा। 'सम्राट अशोक' 2014-15 में लिखा है। चूँकि कोई प्रोफेशनल राइटर मैं नहीं हूँ, मजबूरी नहीं है नाटक लिखने की; तो जब बहुत कम्फर्ट होता है तभी लिखता हूँ। देखिए, 1968 से 1976 के बीच में मैंने आठ नाटक लिखे हैं। '78 में मेरी पत्नी का देहान्त हो गया, उसके तेरह साल बाद मैंने 'सीढ़ियाँ' लिखा, फिर उसके दस साल बाद।

विनय उपाध्याय: 'सम्राट अशोक' के बाद फिर बहुत जल्दी कुछ नया...

चूँकि आप तो बहुत पढ़-लिखकर और तमाम अपने अध्यवसाय से, बल्कि मैं कहूँगा कि पहले आप अपने मानस में कुछ चीज़ बुनते रहते हैं और फिर आपकी एक कृति नाट्यकृति के रूप में आती है।

दयाप्रकाश सिन्हा: ठीक ही समझा आपने। मैं 'रहीम' पर लिखने की कोशिश कर रहा हूँ।

प्रेमशंकर शुक्ल: कवि होने के कारण मेरी एक शिकायत ज़रूर होती है कि आपने अपने नाटकों में गद्य से बहुत काम लिया है, लगभग पूरा काम लिया है। वहाँ पद्य का या मैं कहूँ पोइटिक जैसी चीज़ों की प्रजेन्स थोड़ी सी कम है, तो क्यों है?

दयाप्रकाश सिन्हा: अंग्रेज़ी में मेरी पर्सनेल्टी बहुत जईक है, इसलिए मैंने गद्यात्मक लिखा लेकिन इमोशन्स हैं। मेरे नाटकों में कहीं-कहीं बहुत इमोशन्स हैं और कविता से ज़्यादा ही इमोशन्स हैं। पता नहीं, आप पढ़ेंगे तो आपको लगेगा, बहुत पोइटिक इमोशन्स हैं। 'कथा एक कंस की' में ध्यान से देखिएगा। दूसरी चीज़ मैंने और की थी, मैंने साइकोलॉजी विशेष रूप से पढ़ी थी। किताब पढ़ी थी। तब मैंने एक नाटक भी लिखा था फॉर्मेटिव स्टेज़ में। फार्मेटिव स्टेज़ में तो सारे नाटक अंग्रेज़ी के पढ़े थे। सार्त्र, रेनाल्ड और जिम्पी, ये सब पढ़ते थे, लेकिन फिर मैंने साइकोलॉजी स्पेशियली पढ़ी और फिर मैंने अपने नाटकों में ये कोशिश की कि चरित्रों में साइकोलॉजिकल जस्टिफिकेशन होना चाहिए। क्योंकि विलेन है तो कोई न कोई ग्रन्थि होगी, जिसकी वजह से वह विलेन बना। तो उसमें एक इनर-लॉजिक ज़रूर होना चाहिए पात्रों के बीच में। ये नहीं कि आपने किसी पात्र को विलेन बना दिया। तो विलेन कोई आदमी अपने आप थोड़ी बनता है।

नाटक ज़िंदा रहेगा, उत्तेजना भी देता रहेगा

गिरीश करनाड

हस्तक्षेप

रंगमंच जब कभी अत्यधिक सुरक्षित या संरक्षित होने का प्रयास करेगा, वह अपनी ही मौत के अधिपत्र (वारन्ट) पर हस्ताक्षर कर रहा होगा। भले ही रंगमंच का भविष्य अक्सर निराशाजनक लगता हो, पर यह हमेशा ज़िन्दा भी रहेगा और उत्तेजना भी देता रहेगा।

नाट्यशास्त्र रंगमंच पर दुनिया के प्राचीनतम ग्रन्थों में से एक है। यह कम से कम ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के समय का है और इसका प्रथम अध्याय नाट्य के जन्म की कथा कहता है। यह एक ऐसा समय था, जब दुनिया नैतिक रूप से पतन के गर्त में चली गयी थी। लोग विवेक शून्य और वासनाओं के गुलाम बन गये थे। किसी ऐसे साधन की आवश्यकता थी (आंखों और कानों को सुख देने वाले और साथ ही शिक्षाप्रद भी) जो मानवता का उद्धार कर सके। तब सृजनकर्ता ब्रह्मा ने चारों वेदों का सार लेकर एक पंचम वेद की रचना की। नाट्य के वेद की। अब चूंकि देवगण नाट्य विद्या में पारंगत नहीं थे, इसलिये नया वेद भरत को सौंप दिया गया, जो कि एक मानव थे। तत्पश्चात भरत ने अपने सौ पुत्रों और ब्रह्मा द्वारा भेजी गयी कुछ दिव्य नृत्यांगनाओं के सहयोग से प्रथम नाटक की प्रस्तुति की थी, वह देवों और दानवों के ऐतिहासिक संघर्ष पर आधारित था और उसमें अन्ततः देवताओं की विजय दिखायी गयी थी। इस प्रस्तुति ने देवताओं और मनुष्यों को तो आनन्दित किया, किन्तु दर्शकों के रूप में उपस्थित दानवों ने स्वयं को बहुत अपमानित महसूस किया। अपनी अलौकिक शक्तियों का प्रयोग कर उन्होंने अभिनेताओं की वक्ता, गतिशीलता और स्मृति को पंगु बना दिया। देवताओं ने भी इसका प्रतिशोध लेने के लिए दानवों पर आक्रमण कर दिया और उनमें से बहुतों को मार डाला। अशांति बढ़ती जा रही थी। सृजनकर्ता ब्रह्मा ने दानवों से सम्पर्क स्थापित किया और बातचीत की। उन्होंने नाटक की व्याख्या करते हुए कहा कि इसमें तीनों ही लोकों

की स्थिति का प्रतिनिधित्व हुआ है। जीवन के नैतिक लक्ष्यों– आध्यात्मिक, सांसारिक और इन्द्रियगत तथा उनके उल्लासों और पीड़ाओं को इसमें सम्मिलित किया गया है। ऐसी कोई भी बुद्धिमत्ता, कला अथवा भावना नहीं है, जो इसमें समाहित न हो। इसके पश्चात ब्रह्मा ने भरत से कहा कि इस प्रस्तुति को आगे बढ़ायें।

प्रस्तुति का दूसरा प्रदर्शन सफल रहा या नहीं, इस बारे में हमें कुछ भी नहीं बताया जाता। इस अध्याय पर टिप्पणी करते हुए विद्वानों ने कहा है कि यह मिथक दानवों की निन्दा करता है। उनका बर्ताव देख कर यह साबित होता है कि वे रंगमंच की वास्तविक प्रकृति को समझ पाने में असमर्थ रहे। रंगमंच पर ब्रह्मा का उपदेश ही आगे चलकर इस मिथक का सार बन गया जो कि मेरे विचार से इस मिथक की एक नितान्त ग़लत व्याख्या है। प्रारंभिक तथ्य यह है कि दानवों ने (देवताओं के विपरीत) शारीरिक हिंसा का सहारा नहीं लिया, बल्कि अभिनेताओं की वाणी, गतिशीलता और स्मृति को अपना निशाना बनाया। इससे साफ़ पता चलता है कि किसी प्रस्तुति के अतिसूक्ष्म पहलुओं के बारे में भी उनकी समझ कितनी परिपक्व थी। और अधिक महत्व की बात यह है कि यह एक श्रद्धेय पाठ है, जो हमें नाट्य–प्रदर्शन की कला और तकनीकों की शिक्षा देने और मानवता के इतिहास के सर्वप्रथम प्रदर्शन के बारे में जानकारी देने के लिये रचा गया है।

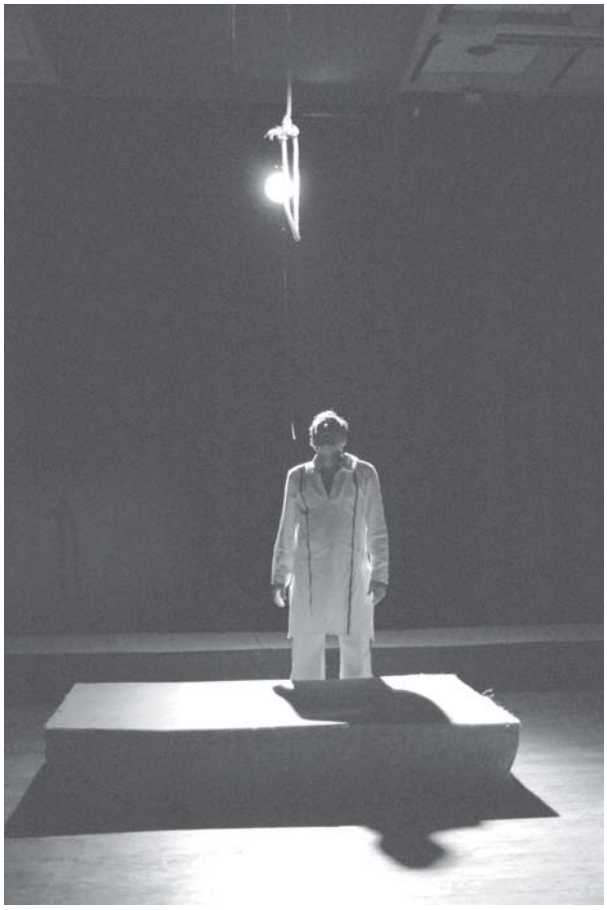

स्पष्टा ने अन्य देवताओं के साथ, जो दिव्य और प्रशिक्षित अभिनेता थे, स्वयं इस परियोजना में हिस्सा लिया था। इसके परिणामस्वरूप प्रस्तुति को जबर्दस्त सफलता मिलनी चाहिए थी। पर इसके बावजूद हमें बताया गया कि यह एक आपदा थीं। इसमें एक अव्यक्त व्यक्तव्य निहित था, जिसका विद्वानों ने संज्ञान ही नहीं लिया। सम्भव है वे इससे परेशान रहे हो। निश्चित रूप से इसके निहितार्थों की आगे चलकर भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में झलक मिलती है, जो दर्शाता है कि रंगमंच का मूल उद्देश्य दर्शकों को ब्रह्मजगत से विभिन्न कर उन्हें एक साझे आनन्द की ओर प्रवृत्त करना है। मेरे विचार से यह मिथक रंगमंच की एक अपरिहार्य विशेषता की ओर इंगित करता है, जहां ब्रह्मा की सान्त्वनाएं सम्भवत: स्वीकृत नहीं हो सकती थीं, कि प्रत्येक प्रदर्शन में, चाहे उसमें कितनी ही सावधानी बरती गयी हो–असफलता और व्यवधान और अन्तत: हिंसा की संभावना बनी ही रहती है। किसी भी जीवन्त प्रदर्शन की न्यूनतम आवश्यकता है कि उसमें एक मनुष्य अभिनय (अर्थात किसी अन्य की उपस्थिति का नाट्य) कर रहा हो और कोई दूसरा उसे देख रहा हो और यह स्थिति अपने आप में ही अनिश्चिता से भरपूर है।

दुनिया में कभी भी उतने नाटक नहीं हुए, जितने आज हो रहे हैं। रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन और वीडियो ने आज हम पर नाटक की बौछार कर दी है। भले ही ये माध्यम दर्शकों को व्यस्त रखें या कुपित कर दें, पर इनमें से किसी में भी दर्शकों की प्रतिक्रिया से कलात्मक वृतान्त में बदलाव सम्भव नहीं है। सर्वप्रथम प्रस्तुति का मिथक यह इंगित करता है कि रंगमंच में नाटककार, अभिनेता और दर्शक मिल कर एक ऐसी निरंतरता या क्रमबद्धता का निर्माण करते हैं, जिसमें से एक न एक हमेशा ही अस्थिर रहेगा और वह इसलिये सम्भावित रूप से विस्फोटक होगा। यही कारण है कि रंगमंच जब कभी अत्यधिक सुरक्षित या संरक्षित होने का प्रयास करेगा, वह अपनी ही मौत के अधिपत्र (वारन्ट) पर हस्ताक्षर कर रहा होगा।

अन्य शब्दों में यह भी एक कारण है कि भले ही रंगमंच का भविष्य अक्सर निराशाजनक लगता हो, पर यह हमेशा ज़िन्दा भी रहेगा और उत्तेजना भी देता रहेगा।

आयाम

इंसानियत की आवाज़ है नाट्य संगीत

आलोक चटर्जी

नाट्य संगीत समूचे मानव जीवन का गान है। दुख, निराशा, आशा, महत्वाकांक्षा, आह्वान, भविष्य की प्रत्याशा ये सब नाट्य संगीत में है। फिर चाहे नाटक ब्रेख्त के हों, भास या कालिदास के, हबीब तनवीर के या कारंत के, क्योंकि नाटक मनुष्य को समर्पित हैं। उसकी सारी अच्छाई-बुराइयों का चित्रण, प्रस्तुतिकरण ही है रंगमंच पर। तो नाटक में निहित सारा काव्य व संगीत-व्यापार भी मनुष्य के व मनुष्यता के प्रति अर्पित होगा ही।

नाट्य संगीत से मेरा पहला परिचय रवींद्रनाथ टैगोर के नाटकों के संगीत से हुआ था। बचपन में मेरी माँ चित्रा चटर्जी देहरादून में रवींद्रनाथ के बेटे से संगीत सीखती थी। टैगोर ने मुक्तधारा, विसर्जन आदि नाटकों में जो धुनें प्रयुक्त की थीं, वो धुनें याद थी टैगोर के बेटे को। तो मेरी माँ ने वे सारे गीत और धुनें सीख ली थी। टैगोर का बहुत प्रसिद्ध बैले है- चंडालिका। उसने बचपन में ही मेरे दिलो-दिमाग पर अमिट छाप छोड़ दी थीं। उसमें बुद्ध के परम शिष्य आनंद और चांडाल कन्या की कथा है। आनंद गुज़र रहे है। रास्ते में चांडाल कन्या उन्हें मिलती है। आनंद प्यास से व्यथित हैं। वे उस कन्या से पानी मांगते हैं। कन्या अपने चांडाल जाति-कर्म की वजह से खुद को हीन समझती है और आनंद को पानी पिलाने से मना करती है ''मैं चंडाल कन्या। संत-महात्मा को कैसे पानी पिला सकती हूं? धर्म भ्रष्ट हो जाएगा आपका''। आनंद उसके मनोभावों को समझते हुए उसे छूते हैं। उसके हाथों में अपने हाथ देकर कहते हैं- ''हम सब मनुष्य मात्र है। हमारी दृष्टि में जाति-वर्ण का कोई भेद नहीं है। तुम मुझे पानी पिलाओ''। चंडाल कन्या अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें पानी पिलाती है। आनंद उसका चांडालत्व मिटा

देते हैं। जाति, वर्ग, वर्ण, धर्म इन सबसे बड़ी चीज़ें हैं मानवता, इंसानियत और करुणा। तो मैं छठी कक्षा में था तब मेरा पहला परिचय नाट्य संगीत से हुआ। माँ बांग्ला में गाती थी चांडालिका के गीत

छी छी छी छी छी/ओके छुओ न छुओ न छी/जो चांडालि नी रे जी/नोष्ट होबे दोई/शे को था जाने न की

जिस चंडाल कन्या को देखकर समाज उसे धिक्कारता था, उसे अछूत बनाकर रखा था। उस कन्या का उद्धार करते हैं- आनंद 'बुद्धं शरणं गच्छामी' कहकर। धर्म, मानवता, करुणा कैसे मनुष्य के हित में योगदान देते हैं।

रंगकर्मी-साहित्यकार अलखनंदन के नाटकों में शोषित, दमित लोग हाशिए पर पड़े लोग के होते थे मुख्य किरदार। उनके समर्थन में दलित-शोषित पक्ष की आवाज़ बुलंद करने वाले नाटक होते थे। जैसे बकरी (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना), अब ग़रीबी हटाओ (वही), दरिंदे (हमीदुल्ला), इकतारे की आँख (मणि मधुकर)। इन नाटकों में उच्च वर्ग का निम्न वर्ग का आपसी द्वंद्व है, संघर्ष है। कबीर का जीवन धर्मांधता व पाखंड के विरोध करने में बीता उनका साहित्य सामाजिक समरसता, बंधुता, न्याय, एकता का साहित्य है।

झीनी-झीनी रे बीनी चदरिया/ कौनतार से बीनी

कबीर आत्मा के कपास के तारों की बात कर रहे हैं। इस तरह एक दर्शन नाट्य संगीत में हमेशा ही मुझे मिला। जब मैंने कारंत जी से रंगकर्म सीखना शुरू किया तब उन्होंने इस कला के मर्म के बारे में बताया। भारतीय नाटकों के अग्रणी और स्थापित संगीतकार थे- महाराष्ट्र के किर्लोस्कर जी। वे 19वीं शताब्दी के आरंभिक काल में हुए। पैडल हारमोनियम बजाते थे। कारंत जी ने उनकी बनाई हुए संगीत रचनाएँ मुझे सुनाईं।

कारंत जी ने समझाया कि नाटक में ध्वनियाँ कैसे विभिन्न रूप रच लेती हैं। वे कहते थे नाट्य संगीत भाव की आमद है। रंगमंडल के शुरूआती दिनों में कारंत जी ने जयशंकर प्रसाद का 'विशाख' नाटक किया था। नीलम मानसिंह चौधरी के साथ सन् 1982-83 मे एक नाटक किया था। लोककथा 'ठकठक' यह मूल मराठी में रत्नाकर मतकरी ने लिखा था। मज़दूरों का शोषण, सामंत और मालिक लोग कैसे करते हैं इसका मार्मिक चित्रण था।

चमारों की बिटिया की अस्मत लूटी/बामन का बेटा, सरपंच का भतीजा/इन दरिंदों का दिल ना पसीजा/चमारन की बिटिया गई जान से/हाय हाय हाय हाय!!!... और ये 'हाय' एक विराट विलाप में बदल जाती है। इस प्रकार नाटकों के गीत दर्शकों में भावों का संचार करते हैं। शोषण और दमन का, अत्याचार का यथार्थ भी प्रस्तुत करते हैं और साथ ही दर्शकों में भी विरोध के स्वर भरते हैं। दर्शकों को उस अत्याचार के प्रति सचेत भी करते हैं। इसके बाद जब जयशंकर प्रसाद का 'स्कंदगुप्त' किया तो उसके नाट्य संगीत में यह पता चला कि उसमें प्रकृति भी है, विरोध भी है, आवाहन और भाव वर्णन भी है।

''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती...'' इस गीत में स्कंदगुप्त की सेना 'मार्च' कर रही है। ये मार्चिंग की धुन है। ये आवाहन गीत है। राष्ट्र प्रेम का गौरवशाली भाव संचरित करता है ये गीत। भारत विशाल की प्राकृतिक समृद्धि को और वीर-साहसी लोगों की ओजस्विता का बखान करता है। यहाँ देवसेना को स्कंदगुप्त से प्रेम हो गया है। प्रकृति में कोयल बोल रही है। देवसेना को लगता है उसी का हृदय बोल रहा है। प्रसाद जी लिखते हैं- ''खग कुल कुल कुल सा बोल रहा/किसलय का अंचल डोल रहा/लो यह लतिका भी भर लाई/मधु मुकुल नवल रस गागरी/बीती विभावरी जाग रही जाग री''... देवसेना के मन में जो अंतर्द्वन्द्व है व प्रेम है स्कंदगुप्त के प्रति ये गीत उसकी अभिव्यक्ति है। वहीं, इसी गीत में राष्ट्र के प्रति आवाहन भी है। 'विभावरी' के बीतने का अर्थ राष्ट्र के लिए नए समय का द्योतक भी है। स्कंदगुप्त देश को सर्वोपरि रखता है और देवसेना को भुला देता है। वह चुनता है व्यक्तिगत प्रेम के स्थान पर देश प्रेम। प्रेम के विरह का अत्यंत मार्मिक गीत है-... आह वेदना, मिली विदाई/मैंने भ्रमवश जीवन संचित/मधुकरियों की भीख लुटाई/आह वेदना मिली विदाई। तो इस गीत में कहीं स्कंदगुप्त का व्यथित मन, उसका अंतर्द्वंद्व, तो कहीं प्रकृति तो कहीं राष्ट्र का आह्वान। उसके बाद निराला की राम की शक्ति पूजा पढ़ी। निराला की इस प्रसिद्ध कविता को जब पढ़ा तो उसमें भाषा, छंद, लय, अलंकार और उच्चारण ये किसी भी समकालीन हिंदी अभिनेता के लिए चुनौती हो सका है, उसका पाठ।

''आदमी के मरने पे है आदमी तैयार/नहला धुला के कांधे पे करते हैं सवार/कलमा भी पढ़ते जाते हैं, और रोते हैं ज़ार-ज़ार/आदमी ही करते हैं मुर्दे के क़ारोबार/और वो जो मर गया है सो है वो भी आदमी/ज़रदार बेनवा है सो है वो भी आदमी''। या फिर... सब ठाठ पड़ा रह जाएगा/जब लाद चलेगा बंजारा

सांसारिकता का भोग कितना भोगोगे। सब ठाठ यहीं पड़ा रह जाएगा! अब देखिए जीवन के सत्य, दर्शन विद्रोह के स्वर, मनोभावों का प्रस्फुटन, करुणा... ऐसा कौन सा भाव है जो नाट्य संगीत में समाहित नहीं है। इसलिए मैं शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत, लोक संगीत की तरह सिर पर रखता हूँ और नाट्य संगीत को मुकुट की तरह स्वीकार करता हूँ।

हबीब

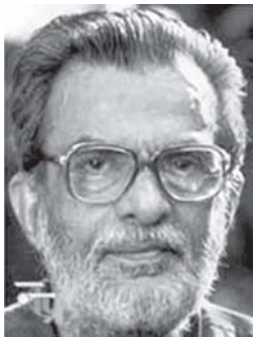

कारंत

काजल घोष

संजय उपाध्याय

आमोद

कारंत जी के बाद की पीढ़ी में भारतीय रंग संगीत के उत्कृष्ट संगीतकारों में काजल घोष, संजय उपाध्याय, आमोद कृष्ण भट्ट आदि ये वे रंग संगीतज्ञ है जो कविता-साहित्य को आधार बनाकर रंग संगीत रचते हैं। ये लोग केवल धुनें नहीं बना रहे। कविता का अध्ययन कर उसे नाटकों का हिस्सा बनाते हैं। ये काम मूलतः कारंत जी व हबीब जी का शुरू किया हुआ है।

हिंदी रंगकर्म में आदरणीय रामगोपाल बजाज साहब इस कविता पाठ के जादूगर रहे। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' में मुझे धर्म दिखा, सत्य और असत्य का द्वंद्व दिखा। लेकिन जब मैंने उनकी 'सरोज स्मृति' पढ़ी तो मुझे पिता और पुत्री के भावनात्मक रिश्ते तथा अंतर्संबंधों का पता चला। वहीं जब उनकी 'छन्न पकौड़ी' पढ़ता हूँ तो ठेले पर तेल से भरी गरम कड़ाही में बेसन छोड़ते हुए व्यक्ति और लालरंग की तली जाती पकौड़ी का दृश्य सामने आ जाता है। तो देखिए एक कामगार आदमी को पकौड़ी एक ऑब्जेक्ट तो 'शक्तिपूजा' कविता में राम और रावण दो भिन्न परंपराओं के प्रतीक और 'सरोज स्मृति' में सरोज नहीं है, पर उसकी स्मृति है। मानव मन की हर सूक्ष्म व प्रच्छन्न संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ ये सभी नाट्य संगीत व कविताओं में खुले मन से अभिव्यक्त हुई हैं।

कारंत जी के बाद की पीढ़ी में भारतीय रंग संगीत के उत्कृष्ट संगीतकारों में काजल घोष, संजय उपाध्याय, आमोद कृष्ण भट्ट आदि ये वे रंग संगीतज्ञ है जो कविता-साहित्य को आधार बनाकर रंग संगीत रचते हैं। ये लोग केवल धुनें नहीं बना रहे। कविता का अध्ययन कर उसे नाटकों का हिस्सा बनाते हैं। ये काम मूलतः कारंत जी व हबीब जी का शुरू किया हुआ है। लगभग 1953 में शुरू हुआ था। तो ये लोग अग्रणी रहे कविता-संगीत के। सामाजिक प्रतिरोध और संघर्ष नया थिएटर के नाटकों का मूल स्वर रहा। उन्होंने मनुष्यता की चेतना वाले, प्रखर गीत, लोकभाषा में रचे, लोकधुनों के साथ।

''जियतमा माई पादा ला मारे/कौआ कुकुर ला दादा बनाके'' ... यह गीत पूरी पाखंड भरी व्यवस्था पर चोट कर रहा है। 'साहब चपरासी' हिरमा की अमर कहानी सहित बहुत से नाटक मिसाल हैं। ''आगरा बाज़ार'' में नज़ीर अकबराबादी की रचनाओं को लेकर पूरा नाटक ही लिख दिया।

''आदमी के मरने पे है आदमी तैयार/नहला धुला के कांधे पे करते हैं सवार/कलमा भी पढ़ते जाते हैं, और रोते रोते हैं ज़ार-ज़ार/आदमी ही करते हैं मुर्दे के क़ारोबार/और वो जो मर गया है सो है वो भी आदमी/ज़रदार बेनवा है सो है वो भी आदमी''। या फिर... सब ठाठ पड़ा रह जाएगा/जब लाद चलेगा बंजारा संसारिकता का भोग कितना भोगोगे। सब ठाठ यहीं पड़ा रह जाएगा! अब देखिए जीवन के सत्य, दर्शन विद्रोह के स्वर, मनोभावों का प्रस्फुटन, करुणा... ऐसा कौन सा भाव है जो नाट्य संगीत में समाहित नहीं है। इसलिए मैं शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत, लोक संगीत की तरह सिर पर रखता हूँ और नाट्य संगीत को मुकुट की तरह स्वीकार करता हूँ।

नाचा के सारे लोकतत्व लेकर हबीब जी ने ब्रेख्त के नाटक कर दिखाए। ब्रेख्त के नाटक में निहित विचार, प्रतिरोध आदि पर हबीब जी ने गीत लिखे व छत्तीसगढ़ी धुनों में ही (बोली भी) उन्हें मंच पर साकार कर दिया। इसलिए वे हबीब साहब हैं।

कारंत जी प्रसाद, निराला की परंपरा से कविता और उसका संगीत लेकर आते हैं। कारंत साहित्यिक गीतों–कविताओं को नाटक में लाए और मनुष्य के उद्दाम साहस व चेतना के शब्दों में संगीत भरते रहे।

''टुकड़े–टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा/उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है/पांडव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज़्यादा...'' यह गीत 'अंधायुग' नाटक में है जो मर्यादा, मूल्य व बंधुत्व पर प्रश्न खड़े करता है। युद्ध पर भी सवाल खड़े करता है– ''युद्धोपरांत अंधायुग अवतरित हुआ। इसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब रिक्त हुईं– है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की/पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में केवल कृष्ण रह गए''

इसलिए मैं ये मानता हूँ कि नाट्य संगीत समूचे मानव जीवन का गान है। दुख, निराशा, आशा, महत्वाकांक्षा, आह्वान, भविष्य की प्रत्याशा ये सब नाट्य संगीत में है। फिर चाहे नाटक ब्रेख्त के हों, भास या कालिदास के, हबीब तनवीर के या कारंत के। क्योंकि नाटक मनुष्य को समर्पित हैं। उसकी सारी अच्छाई–बुराइयों का चित्रण, प्रस्तुतिकरण ही है रंगमंच पर। तो नाटक में निहित सारा काव्य व संगीत–व्यापार भी मनुष्य के व मनुष्यता के प्रति अर्पित होगा ही। नाट्य संगीत ब्रेख्त, हबीब तनवीर, किर्लोस्कर, संजय उपाध्याय, आमोद कृष्ण भट्ट, राजीव सिंह का हो। मेरे निर्देशित नाटकों में प्रसाद का 'ध्रुवस्वामिनी' एक प्रमुख नाटक है। जिसका संगीत आमोद कृष्ण भट्ट ने किया था।

रवींद्रनाथ के नाटक 'राजा' में एक गीत है जो आध्यात्मिक/सा भी प्रतीत होता है किन्तु जाति–वर्ण और उत्तर–दक्षिण होने के भेद को समाप्त करने वाला एकमात्र गीत है– ''जो काला था, जो धौला था/सब तुम्हारे रंग में रंगकर लाल हो गया/ जैसे तुम्हारे चरणों का वर्ण है/उनसे और भेद न रहा/जो काला था जो धौला था...''

उसके बाद जयंत देशमुख के निर्देशन में मैंने 'मृत्युंजय' में अभिनय किया। कर्ण के मनोभावों को प्रकट करने वाले कई गीत थे। संगीत आमोद भट्ट का ही था।... जिसके पिता थे सूर्य/जिसका पलना हुआ धार पर/बहती हुई चिंगारी/सूतवंश में पला/चखा नहीं जननी का क्षीर/निकला कर्ण सभी युवकों में/अद्भुत वीर अद्भुत वीर...। ये जातिगत रूप से देखा जाए तो कर्ण का सबसे बड़ा संघर्ष था। अंतर्द्वद्व था... सूतो वा सूतपुत्रो वा/योवा कोवा भवाम्यहम्/दैवायतम पुले जन्मः मया तदैवतमसम्मया। ये सारे विभिन्न गीत दूसरों के निर्देशन संगीत निर्देशन में गाए, अपने भी निर्देशन में, तो पता चला कि समूचा नाट्य संगीत प्रकृति और मनुष्यता के लिए बेचैन है। एक छटपटाहट है उसमें। गहरी संवेदना व करुणा है।

फिर मैंने प्रसिद्ध लोक कलाकार दादा ओमप्रकाश शर्मा जी के मार्गदर्शन में सन् 1982 में 'माच' किया। हमने 'चंद्रकला सूरजकरण' किया था। मैं चंद्रकला बना था, सूरजकरण राजेंद्र अवस्थी बने थे। उसमें आमद होती है पहले, फिर रंग आता है। उसके बाद सलामी होती है। आमद मतलब मंच पर आना है। रंग याने धुन है। सलामी मतलब सम्मान है।

विहान (भोपाल) का रंग संगीत

नाट्य संगीत, नाटक की व्याख्या करने वाली ध्वनि है। वह शुद्ध संगीत न होकर ध्वन्याकार है। वह ध्वन्याकार प्रभाव नाटक की व्याख्या को अभिव्यंजित करता है। रेखांकित करता है। सुस्पष्ट करता है दर्शकों के सामने।

सूरजकरण का मुजरा प निगाह बनी रहे/मेहरबानऽऽऽ सलामत। सूरजकरण इत्यादि चरित्र मंच पर आकर दर्शकों को सलाम करता है। कॉमेडी चरित्र है बेढब, वह अपना परिचय देता है। ''बेढब नाम है म्हारो, मे उज्जैन नगर से आयो/बाजे ढोल मंजीरा, चंद्रकला ने सूरजकरण/बेढब नाम है म्हारो/मे उज्जैन नगर से आयो/महाकाल, हरसिद्धि, चिंतामन से ध्यान लगायो/ चंद्रकला ने सूरजकरण ले अपने संगे लायो/जाजम लने फर्रासन आवे/खासमास समझायो बाजे ढोल मंजीरा

'माच' मालवा का लोकनाट्य है। मालवी बोली में खेला जाने वाला माच साधारणजनों और राजा-रानियों, साधु इत्यादि अच्छे-बुरे चरित्रों को प्रकट करता है तो लोक के गीत माच में शामिल हो जाते हैं। उनमें भी प्रेम, भक्ति, मुक्ति विद्रोह, चेतना के स्वर हैं जो मालवा की लोकधुनों से फूटते हैं। कारंत जी ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में 'राजा भर्तृहरि' को माच स्टाइल में खेला था। तब मैं सेकण्ड ईयर में था। उस का संगीत भी ओमप्रकाश शर्मा जी ने किया था। उसमें एक दृश्य है। राजा भर्तृहरि अपनी रानी के साथ भोग-विलास में निरत हैं। प्रेमिका रानी का किरदार पुरूष ही निभा रहा है।

झूलों हम झूला जी/सखी हम संग सावर मास में... माच का गायन विशिष्ट लोक गायन पद्धति है। तो एक अभिनेता गा रहा है, नाच रहा है और नाच-गाकर अभिनय कर रहा है। यही तो है भरतमुनि का संपूर्ण अभिनेता। सब कुछ क्रिया व्यापार, कलाओं का निष्पादन करने वाला।

नाट्य संगीत नाटक की व्याख्या करने वाली ध्वनि है। वह शुद्ध संगीत न होकर ध्वन्याकार है। वह ध्वन्याकार प्रभाव नाटक की व्याख्या को अभिव्यंजित करता है। रेखांकित करता है। सुस्पष्ट करता है दर्शकों के सामने।

नाट्य संगीत में माँझी गीत कारंत जी लेकर आए ... हैया हो हैया हो मांझी/साँस है खे लोगे, जर्जर भरी पथिकों से/ये नैया क्या ढोगे/माँझी। ये स्कंदगुप्त का गीत है। इसमें दार्शनिक विचार भी हैं साथ ही क्रांति का उद्घोष भी है। ब्रेख्त के नाटक 'थ्री पैनी ऑपेरा' जिसका निर्देशन फ्रीट्ज बेनेवित्ज ने किया था। उसका संगीत कारंत जी ने किया था। उसमें भी एक माँझी गीत था- बंदगाह में आयेगा इक दिन/आठ पाल वाला/जिसके ऊपर लगा है पचास तोपों का जाला/हैया हो हैया...

कारंत जी ने 'मालविकाग्निमित्रम्' को बुंदेली में किया तो बुंदेली लोक संगीत का आधार लेकर सारी धुनें बनाईं। राजा अग्निमित्र मालविका का चित्र देखकर मंत्रमुग्ध हो जाता है। गीत देखिए- ''ऐसे अलबेली के नैना/मुख से काज बने ना/ऐसे अलबेली के नैना/मरत निसाने ऊपर/पंछी उड़त बचे ना/ऐसे अलबेली के नैना/जियरा देत पराये ऊपर/जे निर्देयी कसकेना/ ऐसे अलबेली के नैना''। इस गीत में प्रेम (श्रृंगार रस) की अभिव्यक्ति के लिए कविता के बिंब कितने सुंदर है। पणिक्कर जी के निर्देशन व संगीत निर्देशन में 'उरूभंगम' नाटक में संस्कृत श्लोकों का गायन का तरीका एकदम भिन्न था। दक्षिणात्य शैली का। चैंटींग की तरह मंत्र बुदबुदाने की तरह उनका पाठ। सामवेद की ऋचाएँ जिस तरीके से पढ़ी जाती हैं उसी तरह संगीत व उच्चारण था।... ईश्वरोमि जटाम्/जयद्रथ जलाम्/गांधार राज विराम/कर्ण द्रोण कृपोर्मणि/चक्र अश्वत्थामा/ईश्वरोमि जटाम्।/आ पहुँचे तो हम आ पहुँचे/युद्ध भूमि के विशाल मैदान में/विस्तृत क्षेत्र में कटे मुंड लो कटे रूंड/हम आ पहुँचे हम आ पहुँचे। इस गीत में युद्धभूमि का वीभत्स चित्रण है। भय, है, वीरता है साथ ही युद्ध की निःसारक्षता भी प्रच्छन्न रूप से अंतर्निहित है। ... बिलाशक नाट्य संगीत इंसानियत की आवाज़ ही है।

- रंगकर्मी हेमंत देवलेकर का वार्ता लेख

सिनेमा और रंगमंच अलहदा भी साथ भी

सुदीप सोहनी

रंगमंच का अपना व्यापक फलक और सरोकार हैं और उसमें जीवटता से काम करने वाले सिनेमा और थिएटर दोनों को अलग-अलग असर करने वाले माध्यम मानते हैं। इसलिए थिएटर और सिनेमा की तुलना या लेन-देन को ठीक नहीं समझा जाता। मगर, थिएटर की 'नाटकीयता' और कथ्य के साहित्यिक महत्व के कारण सिनेमा ने रंगमंच से बहुत कुछ लिया है। दुनिया भर में इन दो कलाओं को बारीकी से जानने-समझने वाले लेखक-फिल्मकार कुछ न कुछ संतुलन या आपसदारी खोज ही लेते हैं।

सिनेमा मुख्य रूप से दृश्यों का माध्यम माना जाता है इसलिए कोई भी कथा परदे यानी स्क्रीन पर दिखाये जाने के लिए विजुअल (दृश्य) की मांग करती है। रंगमंच पर पुरातन काल से चली आ रही सबसे सशक्त किरदार सूत्रधार की परंपरा सिनेमा माध्यम में सबसे कमजोर मानी जाती है। और यहीं से सिनेमा और रंगमंच के माध्यम में फ़र्क की शुरुआत होती है। बहरहाल, इसीलिए दोनों ही माध्यमों में दिखाई जाने वाली कहानी रूपान्तरण की माँग करती है। हालांकि, यहाँ लेखक और निर्देशक के रूप में दो बहुत महत्तवपूर्ण कारक उभरते हैं जिनके कारण दोनों माध्यम भिन्नता और स्तरीयता का दर्जा पाते हैं। यह बहस रंगमंच और सिनेमा की श्रेष्ठता या भिन्नता के लिए नहीं बल्कि उस आधार को बना देने की है।

हॉलीवुड ने लेखन की महत्ता को स्वीकारा है और इसलिए वहाँ के एकेडमी अवार्ड्स में सर्वश्रेष्ठ फिल्म के लेखन पुरस्कार में दो कैटेगरी हैं दि बेस्ट ओरिजिनल स्क्रीनप्ले और बेस्ट एडप्टेड स्क्रीनप्ले। 1956 तक इसे कहानी का ही अवार्ड माना जाता था जिसे फिर इन दो कैटेगरी में विभाजित किया गया। हालांकि, मतभेद इधर भी बहुत से हैं पर यह एडप्टेशन या रूपान्तरण लेखक और निर्देशक के कौशल को ही टटोलता है। साहित्य की कई विधाएँ कहानी, उपन्यास, जीवनी, यात्रा वृत्तान्त, आत्मकथा, कविता, नाटक आदि या तो सिनेमा के मूल विचार या उसके आधार रहे जिस पर बहुत कुछ लिखा, पढ़ा जा चुका है। केवल नाटकों पर बनी फिल्मों की बात की जाये तो यह संख्या भले कम हो पर रोचक ज़रूर है। शेक्सपीयर की लेखकीय उपस्थिति और साहित्यिक कद आज भी अपने पूरे सम्मोहन के साथ मौजूद है। यही कारण है कि सिनेमा में

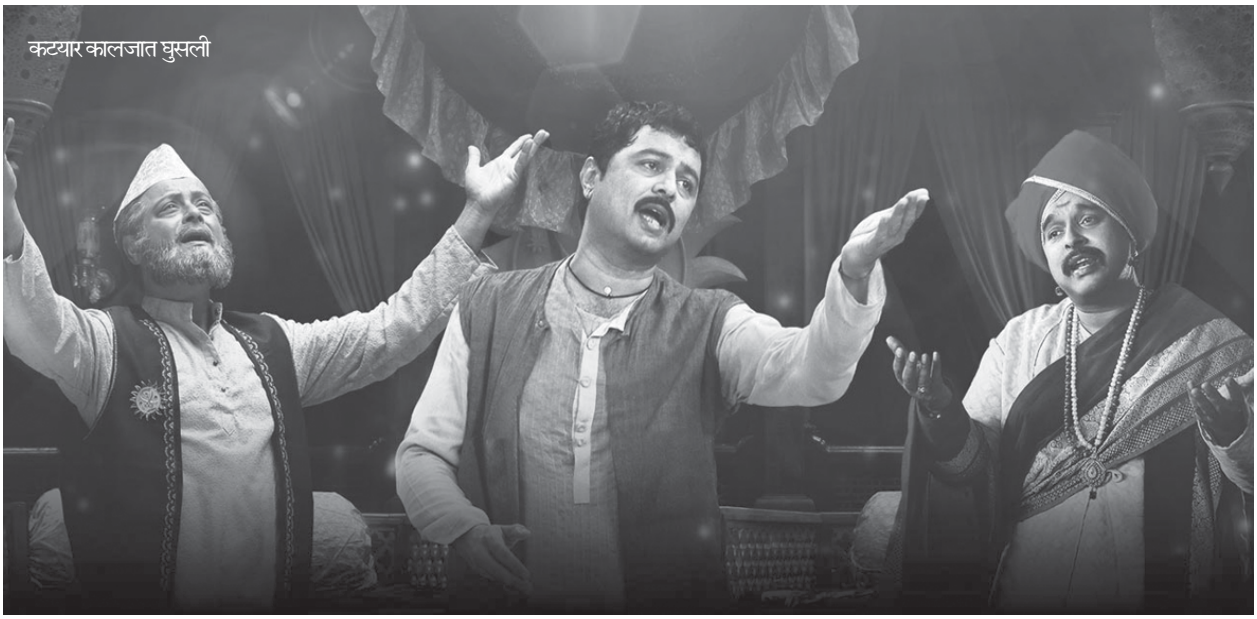
कटयार कालजात घुसली

हिन्दी फिल्मों में शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिकम्' पर गिरीश कर्नाड निर्देशित फिल्म 'उत्सव', शेक्सपीयर के नाटकों पर आधारित विशाल भारद्वाज की फिल्मों 'मकबूल', 'ओमकारा' और 'हैदर' चर्चित हैं ही। कई और हिन्दी फिल्में 'रोमियो जूलियट' की कहानी पर आज भी बन ही रही हैं। 'क़यामत से क़यामत तक', 'इशक़ज़ादे, 'रामलीला' आदि तक एक लंबी लिस्ट बनती है। मणि कौल ने मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' पर इसी नाम से अ-नाटकीय फिल्म बनाई है। जो उनका सिग्नेचर मिनिमलिज्म स्टाइल भी है। मराठी नाटक 'कटयार कालजात घुसली' पर साल 2015 में सुबोध भावे की इसी नाम से बनी फिल्म आई थी जिसमें मशहूर गायक शंकर महादेवन ने अभिनय भी किया था।

शेक्सपीयर का जम कर उपयोग हुआ। यूरोप में जन्मे शेक्सपीयर नाटकों के साथ जीवन की जिस क्रान्ति को उद्घाटित करते हैं उसने देश काल, भूगोल को तोड़ते हुए पूरी दुनिया को एक किया है। सिनेमाई इतिहास में शेक्सपीयर जितनी तरह आते हैं उतना कोई और लेखक नहीं।

बीते कुछ सालों में नाटक आधारित फिल्मों में मेरी देखी बेहतरीन फिल्मों में 'एमेड्यूअस' एक बेहतरीन फिल्म रही है। रशियन नाटककार एलेक्जैन्डर पुश्किन के 1830 में लिखे नाटक 'मोजार्ट एंड सैलियरी' पर आधारित मिलोस फोरमैन की यह फिल्म 1984 में बनी थी। पीटर शैफर के रूपान्तरण पर यह पहले नाटक 'एमैड्यूअस' और फिर बाद में इसी नाम से फिल्म के रूप में बना। ऑस्ट्रिया के वियना में बूढ़े संगीतकार सैलियरी के मोजार्ट को जहर देकर मार देने की स्वीकारोक्ति से कहानी शुरू होती है जिसका कारण उसकी ईश्वर से वह ईर्ष्या है जब उसने सारी सांगीतिक प्रतिभा मोज़ार्ट को दे दी। ढाई घंटे से भी अधिक की यह फिल्म अपने फैलाव में नाटकीयता, भव्यता और मोज़ार्ट की धुनों के कारण कमाल का अनुभव देती है।

हॉलीवुड रॉम-कॉम के स्टार माने जाने वाले वूडी एलन के लिखे नाटक 'प्ले इट अगेन सैम' पर इसी नाम से बनी फिल्म जिसमें मुख्य किरदार भी वूडी ने निभाया है, मज़ेदार फ़िल्म है। दार्शनिकता से इतर ज़िंदगी की सच्चाई को हल्के-फुल्के मनोरंजन के साथ ट्रीट करना साहित्य में स्वीकार्य नहीं। सिनेमा फिल्म इसी मिथक को तोड़ता है। तलाकशुदा सैम जो कि एक फिल्म समीक्षक है फिल्म 'कासाब्लांका' के किरदार रिक (हंफ्री बोगर्ट) से प्रभावित है। तलाक के बाद की निराशा से उबरते हुए सैम अपने दोस्त के फिर से ज़िंदगी शुरू करने और स्त्रियों से मिलने की सलाह के बाद उसी की पत्नी से दिल लगा बैठता है। उसके दिमाग़ में चल रही कई परिस्थितियाँ और रिक का किरदार जो फिल्म 'कासाब्लांका' में अपनी प्रेमिका को उसके पति के साथ जाने देता है, को स्वीकार न करते हुए सैम की यह कहानी गुदगुदी पैदा करती है।

इसके इतर जर्मन निर्देशक रेने वर्नर फास्बेंडर लिखित नाटक 'द बिटर टिअर्स ऑफपेट्रा वॉन कांट' पर इसी नाम की जर्मन फिल्म फैशन डिजाइनर पेट्रा वॉन कांट के जीवन के उन पहलुओं को उभारती हैं जब पुरुष प्रेमी पति के मर जाने या शादी के बाद तलाक़ हो जाने के कारण उसे पुरुषों के प्रति घृणा हो जाती है। यही उसका स्त्रियों के प्रति आकर्षण भी पैदा होता है। फिर भीतर की कई ग्रंथियों के कारण उसके अवचेतन की कई परतें खुलती हैं। 1972 में बनी यह एक कमाल की एक्सपेरिमेंटल फिल्म है जो आज के समाज की हकीकत भी दर्शाती है। इटैलियन फिल्मकार पिएरे पाओलो पसोलिनी साहित्यिक कृतियों पर अपनी तरह की फिल्में बनाते रहे हैं जिसमें सेक्स, न्यूडिटी के ज़रिये जिंदगी की सच्चाईयों पर तीखा व्यंग्य होता है। सोफ़ोक्लीज के नाटक 'ईडीपस रेक्स' पर आधारित इटैलियन फ़िल्म 'इडिपो रे' में उनकी यही शैली दिखती है। हालांकि, पसोलिनी इसके बाद की फिल्मों में अपनी स्टाइल अलग तरह से उभारते हैं। मगर अपनी देखी फिल्मों में पसोलिनी मुझे अलग (अजीब) तरह के फिल्मकार लगते हैं। और इस नाते भी उनकी फिल्में देखे जाने की माँग करती हैं।

हिन्दी फिल्मों में शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिकम' पर गिरीश कर्नाड निर्देशित फिल्म 'उत्सव', शेक्सपीयर के नाटकों पर आधारित विशाल भारद्वाज की फिल्मों 'मकबूल', 'ओमकारा' और 'हैदर' चर्चित हैं ही। कई और हिन्दी फिल्में 'रोमियो जूलियट' की कहानी पर आज भी बन ही रही है। 'क़यामत से क़यामत तक', 'इशक़ज़ादे, 'रामलीला' आदि तक एक लंबी लिस्ट बनती है। मणि कौल ने मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' पर इसी नाम से अ-नाटकीय फिल्म बनाई है। जो उनका सिग्नेचर मिनिमलिज्म स्टाइल भी है। मराठी नाटक 'कटयार कालजात घुसली' पर साल 2015 में सुबोध भावे की इसी नाम से बनी फिल्म आई थी जिसमें मशहूर गायक शंकर महादेवन ने अभिनय भी किया था। दो सांगीतिक घरानों और गुरुओं की लड़ाई को दर्शाती यह बेहद चर्चित फिल्म थी। इस क्रम में महेश मांजरेकर निर्देशित, नाना पाटेकर अभिनीत 'नटसम्राट' और श्याम बेनेगल द्वारा हबीब तनवीर के बहुचर्चित नाटक 'चरणदास चोर' से प्रेरित फिल्म का ज़िक्र भी किया जा सकता है। प्रसिद्ध मलयाली फिल्मकार जी अरविंदन की 'कांचन सीता' इसी नाम के नाटक पर आधारित भारतीय सिनेमा की बेहतरीन फिल्मों में से है जो राम के जीवन की उत्तर कथा पर आधारित है। हालांकि ऐसी फिल्मों को कथा के आधार पर केवल वर्गीकृत कर उन पर बात नहीं की जा सकती। पर आलेख की सीमाओं में उन्हें चिन्हित कर यह फिल्में देखी जा सकें तब भी उसकी सार्थकता बनी रह सकेगी।

कोरस संगीत में जीवन की परछाई, सुख-दु:ख की छाया मानों आकाश में तैरती नज़र आती है। शब्द और ध्वनियों का यह ताना-बाना प्रकृति की विशालता और उसके अप्रतिम सौन्दर्य को अभिव्यंजित करने की अपार क्षमता रखता है। समवेत व्यक्ति के अंतरमन को सबके साथ मिलकर, उस स्वरधारा में घुल-मिल जाने का संदेश भी देता है। आरोह-अवरोह के उदात्त और अनुदात्त भावों में उठते-गिरते स्वर इसे अनुशासन में बांध देते हैं।

समवेत के स्वर

डूबती-उतराती आवाज़ों का दिलचस्प कारवाँ

इलाशंकर गुहा

समवेत, याने समूह में गायन की परंपरा आदिकाल से विश्व के लगभग सभी आदिम समाजों में प्रचलित है। समवेत आनंद का एक ऐसा स्रोत, जो एक दूसरे के साथ मिलकर, सामूहिकता का बोध कराता है, जीवन के एकाकीपन और निस्संगता से मुक्ति दिलाता है। समवेत व्यक्ति के अंतरमन को सबके साथ मिलकर, उस स्वरधारा में घुल-मिल जाने का संदेश भी देता है। भारतीय संगीत की संस्कृति में समवेत गान की परंपरा वैदिक काल से उपस्थित है, सामवेद के रचयिता ऋषियों ने, इसके सामाजिक महत्व को स्वीकार कर, इसे आनुष्ठानिक स्वरूप दिया था। इसकी छवियां कई आदिवासी जनजातीय लोक स्वरों में आज भी देखने को मिल जाती हैं। दक्षिण के मंदिरों में मंत्रोच्चार और प्रार्थनाओं में यह आज भी जीवित है। आरोह-अवरोह के उदात्त और अनुदात्त भावों में उठते-गिरते स्वर इसे एक अनुशासन में बांध देते हैं। 'त्यागराज संगीत समारोह' में सैकड़ों कलाकारों का एक साथ गायन, वादन अनिर्वचनीय आनंद की सृष्टि करता है।

पश्चिमी संगीत में 14वीं, 15वीं शताब्दी में संगीत के विकास के साथ समवेत चर्च के प्रार्थना संगीत के अनुशासन में सम्बद्ध रहा। उस समय चर्च धर्म के साथ-साथ सामाजिक और राजनीतिक सत्ता के केन्द्र थे। उस काल में 'क्वायर संगीत' धार्मिक संगीत के रूप में विकसित हुआ। उसके लिए रचनाएं लिखी गई, उन्हें संगीतबद्ध किया गया। गायन के लिए जितने अधिक लोग होते थे, उनके लिए उतने ही बड़े स्तर की रचनाएं लिखी जाती थी। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है ''गुस्ताव मेइलर'' की सिम्फनी नं 8 जो 'सिम्फनी आफ थाऊजेंड' के नाम से विख्यात है। 14वीं शताब्दी में यूरोप में क्वायर का रूप बदला। यह मोनोफोनिक याने एक स्वर या स्केल पर सभी के गाने से बदलकर पोलिफोनिक याने अनेक स्वरों में, अलग-अलग स्केल पर गायन के रूप में सामने आया। इसी ने हारमोनी को जन्म दिया। आवाज़ों की बहुस्तरीय छटा ने प्रार्थना के स्वरों को मोहक स्वरूप प्रदान किया।

धार्मिक संगीत की एकरसता भंग होने के साथ ही, आनुष्ठानिक परंपराओं में इसकी बढ़ती मांग के साथ-साथ, इस नए प्रयोग के लिए, कम्पोज़र्स या संगीत रचनाकारों की मांग बढ़ने लगी। उस काल में यूरोप में ऐसी अनेक रचनाएं लिखी गईं, जिसे समवेत स्वरों में बिना वाद्ययंत्रों के गाया जाता था। आवाज़ों के अलग-अलग समूहों से ध्वनि प्रभाव तैयार किए जाते थे। इस प्रकार अलग-अलग स्केल पर आवाज़ों का परीक्षण कर उनका दल बनाया जाने लगा। पश्चिमी रचनाकारों ने इसके लिए चार प्रतिमान तय किए। इसमें सोपरानो (उच्चतम तार सप्तक) अल्टो (मंद्र मध्यम स्वर) टेनर (तार सप्तक वाले स्वर) और बॉस (गंभीर, खरज वाले स्वर) प्रमुख थे। कलाकारों को उनकी नैसर्गिक प्रतिभा के आधार और क्षमता पर कोरल गान हेतु चयन किया जाने लगा। यह भी एक स्थापित सत्य है कि पश्चिम में विभिन्न वाद्ययंत्रों के आविष्कार के पूर्व केवल मनुष्य का कंठ या आवाज़ ही एक मात्र साधन था, जिसमें कुछ रचा जा सकता था। यह बात कमोबेश सभी संस्कृतियों पर भी लागू होती है।

आरंभ में लेटिन रचना के आधार पर चर्च में प्रार्थनाएं गाई जाती थीं। पर अलग-अलग देशों में दूरियां होने के कारण, इसका रूप सब जगह अलग-अलग था। इन सबको एक सूत्र में बांधने का काम किया चार्लमेग्ने ने जो पवित्र रोमन साम्राज्य के प्रमुख थे। उन्होंने महसूस किया कि लोगों के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक एकीकरण के लिए धार्मिक संगीत में एकरूपता आवश्यक है। उन्होंने लेटिन भाषा में, नोटेशन के साथ तैयार धार्मिक साहित्य पूरे यूरोप और अन्य देशों में प्रचारित किया और उसका उसी रूप में गायन और शिक्षण सभी चर्चों में अनिवार्य कर दिया। आज पश्चिमी संगीत संगत में जो कोरल गान परंपरा जारी है वह उसी का प्रतिरूप है और लगभग सभी देशों में कठोर नियम के रूप में अपनाई जाती है।

कालांतर में सभी देशों द्वारा ग्रेगोरियन चांट (प्रार्थना) को अपना लिये जाने के कारण रचनाकार अधिक मुखरता से संगीत रचनाएं लिखने लगे। 1562 में कौंसिल ऑफ ट्रेन्ट जो यूरोप के सभी चर्चों की संगठित सभा थी, उन्होंने एक सम्मेलन में धार्मिक संगीत और धर्म निरपेक्ष संगीत को एक साथ मिलाने पर आपत्ति की। एक निर्णय के अनुसार कोरल संगीत की धार्मिक पवित्रता को अक्षुण्ण रखने हेतु इसके साथ कोई भी छेड़छाड़ या इसके मूल स्वरूप में परिवर्तन प्रतिबंधित कर दिया गया।

लोक में समवेत का संस्कार

भारतीय परंपरा में देखें तो हम पायेंगे कि ग्रामीण जीवन इस सामूहिकता के संस्कारों से भरे हुए हैं।

हर छोटे से छोटे अनुष्ठान के लिए लोक जीवन में गीत उपलब्ध हैं। सब महिलाएं इन्हें प्रस्तुत करते हुए शास्त्रीयता का पालन तो नहीं करती पर लगातार साथ गाते हुए एक दूसरे के सुर को ज़रूर पकड़ लेती हैं। शादी-विवाह के संस्कार गीतों में, जब पचास-पचास आवाज़ें, एक साथ हल्दी, मंडप या विदाई के गीत गाती हैं तो सुनते ही बनता हैं। ऐसा ही भाव बुंदेलखंड में कार्तिक माह में अलस भोर के समय, नदी में नहाने के लिए जाती, सौ-सौ महिलाओं के कंठ से फूटते कार्तिक गीतों को सुनते हुए आता है।

लोकगीतों में एक और विलक्षण बात देखने में आती है, जब गायक वृंद दो दलों में बंट जाते हैं और एक की पंक्ति समाप्त होते ही दूसरा समूह उसे पलभर में उठाता है, इसमें एक दूसरे को सांस लेने के लिए समय देने की क्रिया महत्वपूर्ण होती हैं सामाजिकता का एक अद्भुत गुण छत्तीसगढ़ के श्रमिकों में है। वे जहां काम करते हैं, उस स्थान या परिस्थिति पर गीत बना लेते हैं और उसे गाते हुए काम करते रहते हैं।

चर्च के कठोर सांगीतिक अनुशासन में रहते हुए परवर्ती संगीतकारों जैसे बीथोविन, मोजार्ट, शू बर्ट और अन्य लोगों ने धार्मिक कोरल संगीत के लिए रचनाएं लिखीं, वे इसे परंपरा के रूप में नहीं, बल्कि जीवन की आस्था के रूप में देख रहे थे। ये प्रार्थनाएं प्राचीन समय से आज तक गाई जा रही है। आज चर्च इनकी रचनात्मकता या प्रयोग में कोई हस्तक्षेप नहीं करता, फिर भी उनका ध्वनिक सौंदर्य और आध्यात्मिक गंभीरता आज भी बरकरार है।

यह नियमन आज भी जारी है। सोलहवीं शताब्दी के आसपास यूरोप के डच, पुर्तगाली, स्पेनिश, फ्रांसीसी आक्रांता नई कालोनियों की व्यापारिक तलाश में पूर्व की ओर आने लगे। इसके बाद अंग्रेज़ भी भारत की तरफआए। इनके साम्राज्यवादी कदमों के साथ उनकी संस्कृति भी हमारे देश में आई। जगह-जगह चर्च खुले, संगीत की स्वरलहरियों के साथ, प्रार्थना की इस नई इबारत ने, भारतीय संगीत में घुलना-मिलना शुरू किया। व्यापारिक घुसपैठ के बाद राजनीतिक घुसपैठ के तहत अंग्रेज़ों ने कलकत्ता में अपनी राजधानी बनाई। तत्कालीन बंगाल के अभिजात्य वर्ग ने उनकी संगीत पद्धति का अभिनव रूप में स्वागत किया। नोटेशन याने स्वरलिपि लिखना-पढ़ना सीखा। सामूहिकता के इस प्रभाव को, बंगाल के 'ब्राम्ह संगीत' में सबसे पहले महसूस किया गया। इसमें हमारी ध्रुप्रद परंपरा, साम गान और पश्चिम की हारमोनी का इन्द्रधनुषी मिश्रण अनुभव किया जा सकता है।

इधर महाराष्ट्र, विशेषकर गोवा के क्षेत्र में बहुत तेज़ी से पश्चिमी संगीत विधा का प्रसार हुआ। उनके वाद्य, नोटेशन पद्धति, नृत्य संगीत, इन सभी गोअन लोगों की जीवन पद्धति पर प्रभाव जमा लिया। भारत में बैंड म्यूजिक भी अंग्रेजी सेना के साथ आया। इसमें पारंगत होने के लिए सभी वाद्य वादकों को नोटेशन पढ़ना और उसके अनुसार वाद्य वादन करना आवश्यक था। उनका कंडक्टर याने समूहवादन को परिचालित करने वाला निदेशक का भी पाश्चात्य पद्धति में निपुण होना लाजमी था। इस प्रकार सरसरी तौर पर 19वीं सदी के आरंभिक दशक तक भारत में संगीत की त्रिवेणी सी बहने लगी। पारंपरिक हिन्दुस्तानी, शास्त्रीय कर्नाटक शैली और पाश्चात्य संगीत शैलियां इस धारा के मुख्य अंग थे और आज भी है।

समवेत की विलक्षण शक्ति और उसका सामाजिक प्रभाव स्वाधीनता आंदोलन के दौरान उभरकर सामने आया। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में सेनानायक अजीमुल्ला खां का गीत ''हम हैं इसके मालिक, हिन्दुस्तान इमारा'' लगभग सभी के द्वारा राष्ट्रभक्ति के रूप में अंगीकार किया गया था। अंग्रेज़ी सरकार भी इस गीत के व्यापक प्रभाव से परेशान थी और इसे कुचलने को तत्पर थी। युद्ध करने वाली सभी टुकड़ियाँ इसे प्रयाण गीत के रूप में उपयोग कर रही थी। यह गीत अपनी सरल हिन्दुस्तानी भाषा और जोशीले शब्दों के कारण सबके कंठ का हार बना। इसके बाद 1863 में दूसरा प्रभावशाली गीत 'वंदेमातरम्' रचा बंकिमचंद्र चटर्जी ने। 19वीं शताब्दी के पहले दशक के आते-आते यह गीत भी लोकप्रिय हो गया। गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसकी एक धुन बनाई, जो बहुत ऊंचे सुर में थी। गुरूदेव इसे ऊपर के सप्तक में गाते थे। 1905 में कलकत्ता में मोहन बोस टॉकिंग मशीन कंपनी ने इसे ग्रामोफोन रिकार्ड बनाकर जारी किया। अठाहरवीं शताब्दी के अंतिम दशक में बंगाल में स्वदेशी आंदोलन का ज़ोर था। कांग्रेस का जन्म हो चुका था। इस काल में बंगाल में तीन बड़े कवि

रवीन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्र लाल राय और रजनीकांत सेन मातृभूमि और देश को लेकर रचनाएं लिख रहे थे। सामान्य जन इन जन-गीतों को समूह में गाकर आंदोलन में प्रयोग करते थे। एक रोचक प्रसंग है- रजनीकांत सेन, दार्जिलिंग से कलकत्ता लौटे थे। 'वसुमति' पत्रिका के कार्यालय में अपने मित्र अक्षय कुमार मैत्रेय के पास बैठे साहित्य चर्चा कर रहे थे। तभी आंदोलनकारी कुछ युवकों ने उन्हें घेर लिया और एक गीत धुन बनाकर देने का अनुरोध करने लगे। गीत प्रेमी रजनीकांत ने तुरंत चार पंक्ति लिखी- ''मायेर देऊया मोटा कॉपड़/माथाय तुले ने रे माई/दीन दु:खीनी मां जे तोदेर/तार बेशी आर साध्य नाई''। अर्थात- इस दीन दु:खिया (भारत) मां के पास जो कुछ मोटा कपड़ा है, उसे सिर से लगाओ, यही तुम्हारा साध्य है याने स्वदेशी अपनाओ।

तुरंत लोकधुन पर आधारित संगीत तैयार हो गया। गीत की पूरी पंक्तियां बाद में लिखी गईं। इन चार पंक्तियों को युवकों ने उन्मादभरे स्वरों में गा गाकर स्वदेशी आंदोलन का प्रचार करना शुरू किया। पूरा गीत प्रकाशित होने के बाद यह स्वदेशी आंदोलन का मुख्य गीत बन गया। गीत के अन्य अंतरे में कहा गया- कि उस मोटे सूत के कपड़े में मां का असीम प्यार गुंथा हुआ है, उसे छोड़कर हम दूसरे के दरवाज़े से भिक्शा मांग रहे हैं याने विलायती कपड़ा पहन रहे हैं, अगले अंतरे में लिखा- कि देश में सबके खाने के लिए प्रचुर मात्रा में अन्न नहीं है, फिर भी अनाज को बेचकर, विलासिता के सामान जैसे कांच, दर्पण, साबुन और मोजा खरीद रहे हैं। आओ, हम प्रतिज्ञा करें कि जो वस्तुएं हमारी मां के घर में उपलब्ध हैं, उन्हें हम विदेश से नहीं खरीदेंगे, ना उपयोग करेंगे। इस गीत को समवेत स्वरों में प्रस्तुत कर आज भी पूरे बंगाल में गाया जाता है, रेडियो पर प्रसारित किया जाता है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह भी है कि ये तीनों महत्वपूर्ण कवि- रवीन्द्रनाथ ठाकुर, द्विजेन्द्र लाल राय और रजनीकांत सेन- संगीत रचनाकार भी थे। आज सौ वर्ष बाद भी उनका स्वरूप जस का तस बरकरार है। 1905 में बांग्लार आंदोलन के समय गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ने सामाजिक सरोकार से जुड़ी अनेक महत्वपूर्ण रचनाएं लिखी। बांगलार माटी बांग्लार जल, बांग्लार वायु, बांग्लार फल, पुण्य रोक हे भगवान। देश की माटी के इस स्वस्तिवाचक गीत ने आंदोलनकारियों को स्फूर्ति और ओज से भर दिया। इस गीत का बाद में हिन्दी में अनुवाद किया सुकवि भवानीप्रसाद मिश्र ने जो बहुत लोकप्रिय हुआ।

धन धान्य पुष्प भरा...

एक और महत्वपूर्ण गीत द्विजेन्द्रलाल राय का है जिसकी स्वर रचना में कवि ने हारमॉनी के प्रयोगों के लिए जगह बनाई है। गीत है- ''धन धान्य पुष्प भरा, आमादेर एई वसुंधरा'', जिसमें देश की प्राकृतिक सुषमा का मनोहारी वर्णन है। 'कलकत्ता यूथ क्वायर' की रूमा गुहा ठाकुर्ता ने अपने वृंदगान दल के माध्यम से पूरे देश और विदेशों में इन गीतों को प्रस्तुत कर, समवेत गान के सौन्दर्य को श्रोताओं के सामने रखा। प्रसिद्ध संगीतकार सलिल चौधरी ने भी कोरस के लिए अनेक संगीत रचनाएं तैयार की है। वे पाश्चात्य संगीत के अच्छे जानकार थे और सिम्फोनी संगीत को कुशलता से अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करते थे। स्वाधीनता की 25वीं वर्षगांठ पर शुभो दासगुप्ता का लिखा गीत ''ओ आमार जन्मभूमि-आमार मातृभूमि सौंपेछि तोमाय प्राण'' उन्होंने 'काबुलीवाला' के गीत 'ए मेरे प्यारे वतन' की धुन पर कम्पोज़ किया, जो अत्यंत कर्णप्रिय बना है।

आज हिमालय की चोटी से फिर हमने ललकारा है...

1939 में अशोक कुमार और समूह स्वर में गाया गया फिल्म 'बंधन' का गीत 'चल चल रहे नौजवान' एक प्रेरणादायी गीत था। दो मिनिट के इस गीत में बच्चों का कोरस अपने आरंभिक स्वाभाविक अंदाज़ में प्रस्तुत किया गया था। फिल्म 'किस्मत' का गीत ''आज हिमालय की चोटी से फिर हमने ललकारा है'' समवेत गान का एक विरल उदाहरण है। इसमें संगीतकार अनिल बिस्वास ने कोरल के पाश्चात्य अनुशासन के हिसाब से अलग-अलग रेंज के मंद्र और खरज वाले स्वरों का उपयोग कर उसे अद्भुत गीत बना दिया है। इसमें आम आदमी के भाव को महसूस किया जा सकता है- इसी कारण ये गीत बहुत लोकप्रिय हुआ। अपनी लोकप्रियता के कारण तत्कालीन अंग्रेजी शासन भी इस के सामाजिक प्रभाव से विचलित भी हुआ।स्वाधीनता आंदोलन के उस दौर में फिल्म 'शहीद' का गीत 'वतन की राह में, वतन के नौजवां शहीद हो' बहुत सुना गाया और लोकप्रिय भी हुआ। इस गीत में भी समूह स्वरों में पंक्तियों का दुहराना, प्रभावशाली दृश्य बना था- जो आज भी दर्शकों और श्रोताओं की आखें नम कर देता है।

इसके शब्द हैं- ''देश की माटी, देश का जल/देश की हवा, देश के फल/पुण्य हो, पुण्य हो, हे भगवान''। इस गीत के आगे के अंतरों में देश के सभी भाई बहन के एक होने की प्रार्थना है।

इसी समय गुरूदेव का एक और गीत लोकप्रिय हुआ था, जो मातृवंदना के रूप में है- ''ओ आमार देशेर माटी, तोमार कोले ठेकाई माथा।'' इसके अलावा गुरूदेव का प्रसिद्ध गीत- ''आमार शोनार बांग्ला आमि तोमाय भालो बॉशी'' आज बांग्लादेश का राष्ट्रगीत बन चुका है। ये जानकर भी आपको आश्चर्य होगा कि 1971 में बांग्लादेश मुक्ति संग्राम में यही गीत लोगों के लिए प्रेरणा के स्रोत बने थे। बांग्ला देश में कपड़ा उत्पादन एक बड़ा महत्वपूर्ण उद्योग है। 1971 के मुक्ति संग्राम में बांग्ला देश मुक्ति वाहिनी के क्रांतिकारियों ने रजनीकांत सेन के गीत- ''मायेर देऊया मोटा कॉपड़/माथाय तुले ने रे माई'' को अपने मुख्य क्रांतिगीत के रूप में अपनाया था और इसे गाते हुए देश की मुक्ति में अपना योगदान दिया था।

1915 में महात्मगांधी के भारत में आगमन के साथ ही स्वाधीनता की केन्द्रभूमि बंगाल से हटकर पुणे, मुंबई की ओर आ गई। गांधीजी के साथ आम जनता भी इस आंदोलन में शामिल हुई। हिन्दी और उर्दू की देशभक्ति रचनाएं एक नया माहौल रचने लगी। 1931 में बोलती फिल्म 'आलमआरा' से मनोरंजन और सामाजिक उद्देश्य के एक नए माध्यम का अर्विभाव हुआ। संगीतकारों, कवियों और प्रस्तुतकर्ताओं को एक नया मंच मिला। यहां से समवेत गान के लिए एक अभिनव, कल्पनायुक्त संसार शुरू हुआ-क्योंकि इसमें दृष्यता थी, प्रस्तुति के लिए तकनीकी सुविधाएं थीं और व्यवसायिक निपुण कलाकार जो एक निर्देशक की कमान में थे।

संगीतकार शंकर-जयकिशन कोरस को सिम्फोनी का रूप देकर गीत को दृष्य रूप में संयोजित करते थे। फिल्म 'दिल अपना प्रीत पराई' का गीत ''अजीब दास्तां है ये'' जो मीना कुमारी पर फिल्माया गया था, इसका सुंदर उदाहरण है, जहां नायिका के मन का दु:ख, कुछ खोने का अहसास गीत के बीच में उठते कोरस के साथ धनी निराशा में बदलने लगता है। सु:ख-दु:ख दोनों की परछाई इस दृश्य पर छा जाती है। इससे भी अधिक प्रभावशाली दृश्य बना था- फिल्म 'जिस देश में गंगा बहती है' के गीत ''आ अब लौट चले' में। नायक राजकपूर बंदी डकैतों को साथ लेकर आ रहे हैं एक अच्छे जीवन में वापसी का संदेश लेकर। उधर नायिका पुलिस वालों को साथ लेकर उस भीड़ में नायक को ढूंढ रही है। उसे नायक दिखाई नहीं दे रहा था। उसके मन की टीस, लता मंगेशकर की आवाज़ में लंबी टेर, तार सप्तक के स्वर में आकाश को छू रही है। पीछे समवेत कोरस का ध्वनि प्रभाव, सामूहिक गान के स्वर, दर्शकों के मन को उद्धेलित करते हैं। अंधकार से प्रकाश की ओर, निराशा से आशा की ओर लौटने का, नए जीवन में प्रवेश का ऐसा प्रभावशाली सामाजिक संदेश, राजकपूर जैसे कलाकार के मन में ही उभर सकता है। भारतीय सिने जगत के इतिहास में विरले ही है ऐसे दृश्य-बंध हैं जो करूणा का महासागर रचते हैं।

करूणा का एक और समवेत प्रभाव, फिल्म 'बंबई का बाबू' के गीत 'चल री सजनी अब क्या सोचे' में दिखाई पड़ता है। नायिका की विदाई का दृश्य है। तार शहनाई पर कारूणिक धुन के साथ, कोरस के स्वर उठते, गिरते हैं। यहां

संगीतकार 'सचिनदेव बर्मन' ने गीत में वाद्ययंत्रों की जगह कंठ स्वर को प्रधानता देकर, नायक, नायिका के मन में उठते भावों को सांगीतिक भाषा प्रदान की है। कोरस में जीवन की परछांई, सुख दु:ख की छाया मानों आकाश में तैरती नज़र आती है। फिल्म 'नया दौर' का गीत ''साथी हाथ बढ़ाना साथी रे'' अपनी सामूहिक शक्ति में सभी दर्शकों को अपने में शामिल होने का आह्वान करता है। एक सामाजिक उद्देश्यता और संदेश की रचना भी करता है कि बिना हाथ से हाथ मिलाए, एक सूत्र में बंधकर कोई नवनिर्माण की रचना नहीं हो सकती। सारी संभावनाएं एक होने में ही है।

ऐ मालिक तेरे बंदे हम

एक कहावत है– ''प्रार्थनाएँ ऊपर जाती हैं, आशीर्वाद नीचे बरसता है''– इसका सुंदर मन को छूने वाला दृश्यांकन फिल्म 'दो आंखें बारह हाथ' के गीत– 'ए मालिक तेरे बंदे हम' में किया गया हैं। संगीतकार नौशाद ने कोरस के स्वरों को वायलिन के आर्केस्ट्रॉ के साथ मिला, मूक हाथ बांधे खड़े अपराधियों के मन की बात को दर्शकों तक पहुंचाया है। इसमें समवेत स्वरों के उतार चढ़ाव उपस्थित कलाकारों के स्पंदन को ध्वनित करते हैं, उनकी वेदना उनका अपराधबोध, उनकी आन्तरिक आर्तता को कोरस जिस रूप में उभारता है, वह अकल्पनीय है।

नवनिर्माण के संकल्पों को रूपायित करता 'आदमी और इंसान' का गीत 'जागेगा इंसान जमाना देखेगा' वास्तव में देष के नए रूप में ढलने का गीत है। समवेत स्वरों में मोनोफोनिक प्रभाव है पर गीत के शब्द सामाजिक सरोकार को परिभाषित करते हैं। साहिर लुधियानवी ने अपने प्रगतिशील विचारों और देश में हो रहे बुनियादी बदलाव को अपने गीत में सरलता से दर्षाया है। संगीतकार रवि ने श्रमिकों के काम करते क्षणों को समूह स्वरों का भिन्न रूप देकर उसे जीवंत और ऊर्जा संपन्न गीत बना दिया। महेन्द्र कपूर का ओजस्वी स्वर इसे नया कलेवर प्रदान करता है।

समवेत, प्रकृति की विशालता और उसके अप्रतिम सौन्दर्य को अभिव्यंजित करने की अपार क्षमता रखता है, फिल्म मधुमती का गीत ''सुहाना सफ़र और ये मौसम हँसी'' का आरंभ और अंत, वायलिन के सुरों के साथ हमिंग का मिश्रण कर उस वातावरण की विशालता को प्रतिबंधित करने का सफल प्रयास है। सलिल चौधरी ने 'मधुवती' के कई गीतों में कंठ की सिम्फोनी को कई तरह से इस्तेमाल कर आदिवासी कलेवर को नई भाषा प्रदान की है। हिन्दी फिल्मों में समूह स्वरों का उपयोग अनेक संगीतकारों ने अपने–अपने ढंग से किया है। कहीं यह बच्चों की खिलखिलाती हँसी बन के आता है, तो कहीं चुलबुली सखियों के साथ नायिका के पिकनिक या बगीचे के दृश्य। कारूणिक क्षणों में, पार्श्व में सामूहिक स्वरों की रचना, दृश्यों को प्रभावशाली और दर्शकों को बांध लेने वाली होती है।

देश में कई समूह हैं जो आज भी समवेत गान के प्रभावशाली कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। कलकत्ता यूथ क्वायर 1958 में रूमा गुहा ठाकुरता ने सलिल चौधरी और सत्यजित राय के सहयोग से आरंभ किया। इसका उद्देश्य समवेत स्वरों में देशभक्ति, सामाजिक सोद्देश्यता, प्रार्थना और जागरण गीत तैयार करना है। पिछले पचास वर्षों में विविधता से भरे हिन्दी बांग्ला के अनेक महत्वपूर्ण कवियों के गीतों को तैयार कर जनमंच पर प्रस्तुत करने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही हैं। आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से इनका निरंतर प्रसारण जारी रहता है।

इसी कड़ी में महत्वपूर्ण नाम है– शिलांग के विभिन्न क्वायर समूहों का। ये आधुनिक प्रयोगों के साथ विभिन्न स्वर संयोजन में हिन्दी, अंग्रेजी, खासी, बांग्ला, असमिया आदि भाषाओं में प्रेरणा दायक गीतों की प्रस्तुति के लिए विख्यात है। इन सभी कलाकारों की मातृभाषा खासी या नागामीज़ है किन्तु इनके क्वायर की प्रस्तुति, संगीत के माध्यम से राष्ट्रीय एकता के लिए एक मिसाल है।

आकाशवाणी ने भी सामूहिकता की ऊर्जा और प्रभाव को ध्यान में रखते हुए 1970 के दशक में देश की प्रमुख राजधानियों में 'वृंदगान' दल गठित किए थे। इसका उद्देश्य क्षेत्रीय और अन्य भाषाओं में देशभक्ति और जनजागरण के गीत संगीतबद्ध कर उनका लोकहित में प्रसारण करना था। इस उपक्रम से भाषाओं के बीच एक सेतु भी तैयार किया गया और सांस्कृतिक आदान–प्रदान को बढ़ावा मिला। निरंतर अभ्यास से मातृभाषा से इतर, अन्य भाषाओं के उच्चारण उसका शाब्दिक और भषिक सौन्दर्य समझने में कलाकारों को आसानी हुई। इसमें श्रेष्ठ संगीतकार रचनाओं को संगीतबद्ध करने हेतु आमंत्रित किये गये। कुशल गायक–गायिकाओं का चयन करके केन्द्रों पर दल गठित किये गये। इनके

प्रसारण का प्रभाव आम लोगों और विशेषकर स्कूल, कालेजों में देखने को आया, जहां सांस्कृतिक कार्यक्रमों में इन रचनाओं को छात्रों ने प्रस्तुत करना शुरू किया।

इसी कड़ी में आकाशवाणी ने 'सामुदायिक गान शिक्षा' के पाठ तैयार करना शुरू किया। देश की विभिन्न भाषाओं के श्रेष्ठतम कवियों के गीत लेकर, उनको गाने की शिक्षा देने वाले पाठ तैयार किये गये। हिन्दी माध्यम में शिक्षा पाठ तैयार करके, उनका एक निश्चित दिन प्रसारण किया जाता, ताकि बच्चे उन्हें सुन सकें। इन गीतों की लोकप्रियता बढ़ती गई और ग्रामीण क्षेत्रों में भी बच्चे अन्य भाषाओं के गीत गुनगुनाने लगे। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ गीत था– 'हम होंगे कामयाब'। अमेरिका के अश्वेत नेता मार्टिन लूथर किंग के आंदोलन का ध्वज गीत– 'वी शैल ओवर कम'– जिसका हिन्दी अनुवाद किया गिरिजाकुमार माथुर ने। यह गीत संकल्प गीत के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इस क्रम में अनेक देशभक्ति गीत तैयार किये गये। स्कूलों में इनकी प्रतियोगिता होने लगी। इस प्रकार समवेत स्वर, सामूहिक गान का प्रसार होने लगा। राष्ट्रीय एकता को मुखरित करता, हार्मोनिक स्वरों में संगीतकार नीनू मजूमदार द्वारा लिखा गीत– 'आकाशगंगा सूर्य चंद्र तारा कोई ना नथी' के माध्यम से पृथ्वी के विराटत्व को प्रकट किया गया है। मुंबई वृंदगान दल के लिए कनु धोष ने इसे संगीतबद्ध किया। एकता, प्रेम, शांति और सहअस्तित्व के भाव को दर्शाता, यह गीत प्रकृति के प्रति हमारे सम्मान का दर्शाता है। सामुदायिक गान के इन पाठों को बड़े व्यवस्थित रूप से तैयार किया गया था। श्रेष्ठतम गीतों का चयन किया गया। फिर संगीत रचना। बच्चों को पाठ सिखाते समय पहले पूरी कविता शुद्ध उच्चारण के साथ, बोली और लिखाई जाती। उसका अर्थ समझाया जाता, फिर धुन सिखाई जाती। उसके बाद समूह में गाने का अभ्यास।

आकाशवाणी के द्वारा तैयार गीतों को बाद में कैसेट के माध्यम से सामान्य स्कूलों तक पहुंचाया गया। केन्द्रीय विद्यालयों ने इस प्रोजेक्ट में बड़ा सहयोग किया। इन सामुदायिक गान के माध्यम से बच्चों के मन में संगीत के प्रति प्रेम तो जागृत हुआ ही राष्ट्रीय एकता के प्रति भी वे सजग हुए और स्पर्धा की भावना के चलते वे अपना सर्वश्रेष्ठ देने को उद्यत हुए। आज भी आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्र समवेत स्वरों में प्रार्थनाएं, लोकगीत, सुगम संगीत, देशभक्ति गीत प्रसारित करते ही रहते हैं, फिर भी इसे अधिक से अधिक जनोन्मुखी बनाकर, बाल, किशोर और युवा पीढ़ी की रचनात्मकता को और अधिक अवसर दिया जा सकता है। यह लोक हित और देशहित में क्रांतिकारी कदम होगा!

दक्षिण भारत में भी समवेत को लेकर अनेक प्रयोग जारी है। बैंगलूरू में युवा कलाकारों का दल, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की वंदिशों को समूह स्वरों में विभिन्न प्रयोगों के साथ तैयार कर रहे हैं। वहीं चैन्नई में संगीतकार ए.आर. रहमान द्वारा 2008 में स्थापित के.एम. म्यूजिक कंज़रवेटरी पाश्चात्य हिन्दुस्तानी और कर्नाटक संगीत की शिक्षा के साथ, विभिन्न कलाकारों की बंदिशों को ऑन रिकॉर्डिंग्स को संग्रहालय में सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील है। कुमार गंधर्व के सभी महत्वपूर्ण कबीर गायन को, वहां सामूहिक रूप से सिखाया जाता है और उसकी समवेत में प्रस्तुति भी की जाती है।

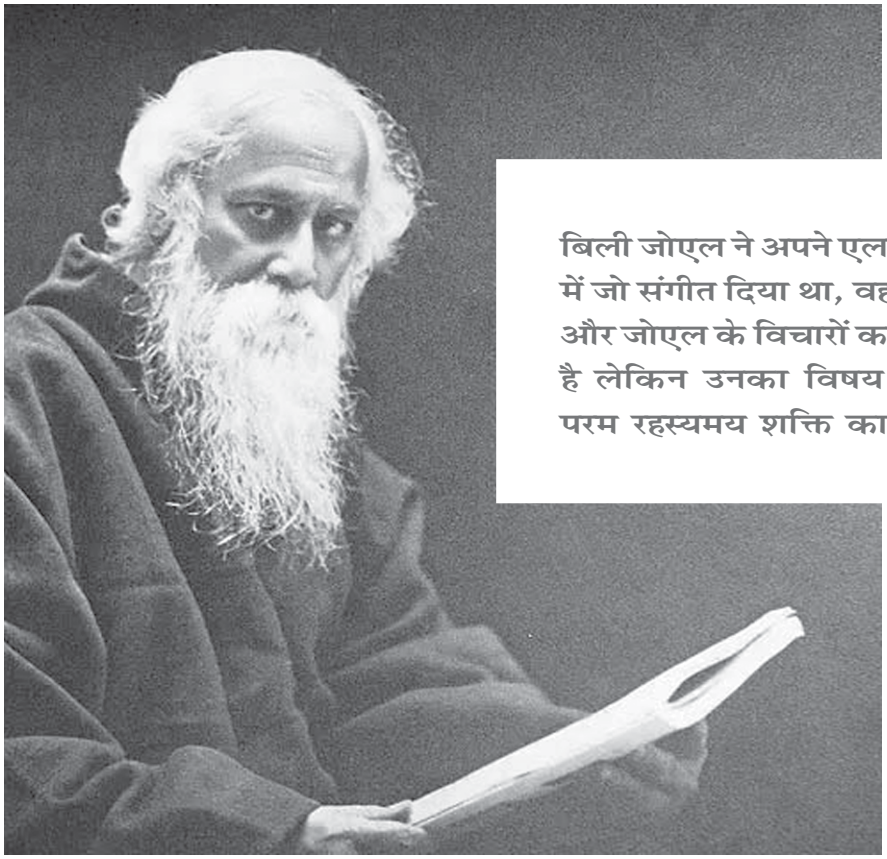

बिली जोएल ने अपने एलबम 'रिवर ऑफ ड्रीम्स' में जो संगीत दिया था, वह अतुलनीय है। गुरूदेव और जोएल के विचारों का माध्यम अलग-अलग है लेकिन उनका विषय एक है। प्रकृति और परम रहस्यमय शक्ति का अवगाहन।

कला या संगीत देश या भाषा की सीमा से परे होते हैं। उसे बांधा नहीं जा सकता है। वह ख़ालिस अनुभव का विषय होता है। शब्द किसी भी भाषा के हों, अगर उसमें मर्म है तो वह असर छोड़ता है। तभी तो सौ साल पहले गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की उन 106 कविताओं को सुनकर अंग्रेज़ी के कवि डब्ल्यू बी यीट्स को अद्भुत रहस्यानुभूति हुई थी। बाद में गुरूदेव के रवीन्द्र संगीत का जादू भी पूरी दुनिया के सिर चढ़कर बोला। आज भी गीतांजलि की कविताओं को बार-बार गुनगुनाया जाता है, रवीन्द्र संगीत के गीतों को बार-बार दोहराया जाता है। हर बार अनुभूति करने वाले अलग होते हैं, पर रसास्वादन एक ही है।

गुरूदेव के गीत- जोएल का पियानो

गुरूदेव की कविता ने यीट्स को मंत्रमुग्ध किया था। उन्होंने गीतांजलि से पश्चिमी साहित्य जगत को अवगत कराया और फिर 1913 में गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। गीतांजलि ने दुनिया को मंत्रमुग्ध कर दिया। इस सम्मोहन के बाँध की जलधारा तटबंधों को तोड़कर आज भी उतनी ही तीव्रता से अंतर्मन को भिगोती है, जितनी सौ साल पहले भिगोती थी। हालांकि यह भी क़ाबिले-ए-गौर है कि गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के बाद ही डब्ल्यू बी

गुरूदेव ने गीतांजलि में प्रकृति के वर्णन का वृहत रूप दिखाया– तो बिली जोएल ने प्रकृति को अपने शब्दों के साँचे में तराशा और पियानो की स्वर लहरियों में ऐसे उतारा कि लगता है मानो दो हज़ार साल की कल्पना उन्होंने कल ही की हो। उनके संगीत की झंकार निराश और हताश मन को न सिर्फ़ सुकून देती है, बल्कि अपनी रिमझिम फुहारों से रोम–रोम को पुलकित भी कर देती है।

यीट्स को वर्ष 1924 में नोबेल से सम्मानित किया गया। पूरे 11 साल बाद। इस तरह 1993 में बिली जोएल ने अपने एलबम 'रिवर ऑफड्रीम्स' में जो संगीत दिया था, वह अतुलनीय है। गुरूदेव और जोएल के विचारों का माध्यम अलग–अलग है। उनके विषय एक हैं। प्रकृति और उस परम रहस्यमय शक्ति का अवगाहन। दोनों अपनी–अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं। उनके बीच तुलना नहीं की जा सकती। यह केवल रसानुभूति का लेखा है। इन्हें न शब्दों में ढाला सकता है और न ही किसी भाषा के दायरे में लाया जा सकता है। गुरूदेव ने गीतांजलि में प्रकृति के वर्णन का वृहत रूप दिखाया, तो बिली जोएल ने प्रकृति को अपने शब्दों के साँचे में तराशा और पियानो की स्वर लहरियों में ऐसे उतारा कि लगता है मानो दो हज़ार साल की कल्पना उन्होंने कल ही की हो। उनके संगीत की झंकार निराश और हताश मन को न सिर्फसुकून देती है, बल्कि अपनी रिमझिम फुहारों से रोम–रोम को पुलकित भी कर देती है।

'वी आर टू थाउजैंड ऑफईयर्स' में वे बड़े ही शांत और गौरवमयी ढंग से सृष्टि के प्रारंभ को रेखांकित करते हैं और संगीत की मधुर लहरियों के साथ हम आगे बढ़ते जाते हैं। बीच में कब वे हिंसा और नफ़रत पर प्रेम को आरोपित कर देते हैं, उसका अहसास दूसरी बार संगीत सुनने पर होता है। पहली बार तो हम केवल मंत्रमुग्ध हो सुनते ही चले जाते हैं। उनके पियानो की मेरे हिसाब से यही ख़ासियत है कि संगीत के सागर में गोते भर लगाते रहें। जितनी गहराई में जाते हैं, उतना ही आनंद बढ़ता जाता है। फिर वे धीरे–से अंधकार से खींचकर प्रकाश की ओर ले जाते हैं। यहाँ बीता कल अदृश्य होने लगता है और वो नई देहरियों को लाँघने की इच्छा जगा जाते हैं। बस, वे ही ऐसे संगीत को रचने का माद्दा रखते हैं। यहीं उनके होने और अपने न होने के अहसास को करना होता है। क्या अंग्रेज़ी संगीत भी इतना अथाह हो सकता है? उसका सीधा और सपाट जवाब बिली जोएल को सुनकर देने वाला 'हाँ' ही कहेगा, क्योंकि हम सूफ़ी संगीत से अपने एकाकार के अनुभव से गुज़रे होते हैं। जहां हम झाँझ, मंजीरे, सरोद, संतूर और वीणा के सुरों से झंकृत होते रहे हैं। बिली जोएल ने वहीं पियानो में ऐसी तासीर पैदा की है कि हम अपने गहनतम में ख़ुद–ब–ख़ुद पहुँच जाते हैं। दीन और दुनिया के तमाम झंझावतों से मुक्त निर्लिप्त आकाश में विचरण करने लगते हैं।

स्मृति शेष : प्रदीप चौबे

इस बार ग्वालियर से लौटे करीब दस दिन ही हुये थे कि उनके निधन की ख़बर आ गई। अभी तो मैं उनकी ग़ज़लों और रचना संसार से परिचित ही हो रहा था। उस पर उनसे बात करने का अवसर नहीं मिला। ग्वालियर में उनकी अंतिम यात्रा में हमारा पूरा परिवार और ग्वालियर का उनका पूरा वृहद् परिवार शामिल था। अशोक चक्रधर, संपत सरल, अरुण जेमिनी सहित हास्य व्यंग्य के सभी दिग्गज। सबकी ज़ुबान पर एक ही बात–चौबेजी हमारे दोस्त थे, और फिर उनका कोई क़िस्सा। एक अबूझ किस्म की निराशा। कुछ बहुत प्यारी चीज़ गुम जाने का दुख। एक आशा– अभी कुछ दिन और रहते।

ठहाकों का उद्घोष
और ग़ज़ल की संवेदना

संतोष चौबे

अपने ग़ुस्से पे फ़िदा रहता हूँ, मैं ज़माने से ख़फ़ा रहता हूँ
मुझसे मिलना है तो तन्हाई में मिल, मैं अकेले में खुदा रहता हूँ.

अभी–अभी तो उनसे मुलाकात हुई थी। लगभग तन्हाई में।

होली के दो–तीन दिन पहले मैं उनसे मिलने ग्वालियर पहुंचा था। ख़बर थी कि वे बीमार हैं, पैर की तकलीफ़ कुछ ज्यादा बढ़ गई है। पिछले दिनों पैर को लेकर वे काफी कष्ट में रहे थे और लंबे समय तक अस्पताल में भर्ती भी रहे। हार्ट और लिवर भी साथ छोड़ रहे थे। सबसे ऊपर था बेटे आभास के असमय चले जाने का दु:ख, जिसे उन्होंने कभी जाहिर नहीं किया पर जो भीतर ही भीतर गहराता जा रहा था।

वे अपनी उसी मस्ती से मिले जो उनकी पहचान थी। वे कपिल शर्मा के शो से हाल ही में लौट कर आये थे, उस पर मज़े लेकर बात करते रहे। शो की देशभर में चर्चा थी। भोपाल के मित्रों के हालचाल पूछते रहे। अपनी छोटी कविताओं 'आलपिन' के बारे में बताते रहे और अपनी ग़ज़लों की किताब 'खुदा ग़ायब है' का जिक्र भी किया। वे पढ़ने के बारे में गंभीर थे और लगभग सारा नया लिखा हुआ पढ़ते थे। मेरी सारी किताबें और अधिकतर कहानियाँ उनकी नज़रों से गुज़री थीं। 'क्या पता कॉमरेड मोहन' और 'जलतरंग' के वे बड़े प्रशंसक थे। सो उन पर भी बातचीत हुई। भोपाल के मित्रों महेंद्र गगन, मुकेश

वर्मा और ज्ञान चतुर्वेदी के हालचाल पूछते रहे और ग्वालियर के साथियों पवन करण, महेश कटारे तथा परितोष के हालचाल बताते रहे। वनमाली सृजन पीठ के कार्यक्रमों में वे नियमित रूप से भोपाल आते थे और उसके व्यवस्थित कार्यक्रमों के बड़े प्रशंसक थे। सी.वी. रामन् विश्वविद्यालय, खंडवा के बनने में उनका भी कुछ योगदान था। सो उसके भी हालचाल लिये गये। पूरी बातचीत में वही मजाकिया अंदाज़, बीच-बीच में गूंजते ठहाके और दुनिया को देखने की वही तिर्यक दृष्टि। इस बातचीत के दौरान उन्होंने कहीं ज़ाहिर नहीं होने दिया कि वे कष्ट में हैं, हालांकि उनके बैठने के अंदाज़ से वह साफ़ ज़ाहिर हो रहा था। सामने ड्राइंग रूम की दीवार पर लिखा आप्त वाक्य चमक रहा था- सब चलता है, यहाँ नहीं चलता है।

ऊपर से दिखने वाले हँसोड़ और लापरवाह व्यक्तित्व के पीछे एक गंभीर, अध्ययनशील और व्यवस्थित प्रदीप चौबे छुपे हुये थे। घर पूरी तरह साफ़ सुथरा और चाक चौबंद, घर में एक व्यवस्थित अध्ययन कक्ष जिसमें करीने से जमी किताबें, घर में ही एक छोटा सा स्टूडियो जिस पर प्रदीप खुद रिकॉर्डिंग और एडिटिंग करते थे। कम लोग ही जानते हैं कि

प्रदीप की ध्वनि और संगीत को लेकर बहुत गहरी समझ थी। वे संगीत और रिद्म की बारीकियाँ भी समझते थे और रिकॉर्डिंग-एडिटिंग की टेक्नॉलॉजी भी। इस बार की यात्रा में विनीता जी भी साथ थीं जिन्होंने अपनी पत्रिका 'चतुर्वेदी चंद्रिका' में प्रदीप चौबे को कई बार रेखांकित किया और उनकी रचनाओं को स्थान दिया था। प्रदीप उन्हें अपना अध्ययन कक्ष और स्टूडियो दिखाते रहे, उन्होंने विनीता को खुद के द्वारा चयनित फिल्मी विवाह गीतों का कलेक्शन ऑडियो कैसेट के रूप में भेंट किया और एक बार धीरे से कहा- मैंने बहुत काम किया संतोष। मैं चाहता हूँ कि मेरा अध्ययन कक्ष इसी तरह बना रहे। वे 'खुदा ग़ायब है' की ग़ज़लों को अपना असली कविरूप मानते थे। उस किताब की भूमिका पढ़ना, उसमें तुम्हें मेरी ग़ज़ल के करीब जाने की कहानी मिलेगी-उन्होंने कहा था।

ग्वालियर से लौटते समय हम लोग यू ट्यूब पर उपलब्ध उनके वीडियो देखते रहे जिसमें उनके प्रशंसकों की संख्या लाखों में थी। प्रदीप कवि सम्मेलनों के नायक हुआ करते थे। उनके खड़े होते ही ठहाके शुरू हो जाते थे। और फिर उनके चुटीले संवादों, आलपिनों और कविताओं के बीच ठहाकों का उद्घोष बढ़ता ही जाता था। चाहे वह उनकी 'शवयात्रा' नामक कविता हो, चाहे 'भारतीय रेल' पर उनका व्यंग्य, वे श्रोताओं को ठहाके लगाने पर मजबूर कर देते थे। वह उत्तरप्रदेश का बाराबंकी हो या छत्तीसगढ़ का महासमुंद, देश के बड़े शहरों में शामिल मुंबई हो या राजधानी भोपाल, प्रदीप चौबे का आना कवि सम्मेलनों की सफलता की गारंटी था। उन्होंने अमेरिका, कनाडा, थाईलैंड, सिंगापुर, दुबई, बेल्जियम, स्विटज़रलैंड, जर्मनी, ऑस्ट्रेलिया, मॉरीशस, इंग्लैंड जैसे अनेक देशों में भी अपनी कविताई की धूम मचाई जहाँ उनके हज़ारों प्रशंसक पाये जाते हैं।

मैं सोचता रहा कि ठहाकों के इस उद्घोष के पीछे ग़ज़ल की उनकी संवेदना कैसे बची रही होगी? उनकी कविता की वास्तविक ज़मीन क्या है? कैसे उसका निर्माण और विस्तार हुआ? इसकी तलाश ज़रूर करूंगा। और यह तलाश करते हुये मैं उनके ग़ज़ल संग्रह 'खुदा ग़ायब है' तक पहुंचा, जिसके पहले पन्ने पर उन्होंने बहुत ही खूबसूरत हस्तलिपि में लिखा था- प्रिय भाई संतोष को सप्रेम, सादर। मैंने ग़ज़लें पढ़ना शुरू किया। एक से एक शानदार ग़ज़लें। 'अपने गुस्से पे फ़िदा रहता हूँ', 'इक कहानी और क्या, ज़िंदगानी और क्या', 'कैसी सौंधी खुशबू है, लगता है मिट्टी, तू है' जैसी सौ से अधिक गज़लें उनमें से कई छोटी बहर की ग़ज़लें जिन्हें कहना कठिन माना जाता है। ग़ज़ल के अनुशासन में कहीं कोई कमी नहीं। कहन में वही बांकपन। प्रदीप ने मुझे चकित कर दिया। फिर मैं उनकी भूमिका की ओर लौटा जिसका उन्होंने ज़िक्र किया था और जहाँ सबसे पहले गुलज़ार साहब का अभिमत चमक रहा था। ''चौबे जी हैरत में डालते हैं। उर्दू पर ऐसी पकड़, ऐसी साफ ज़बान हैरान करती है। खुशी इस बात की है कि वे गाढ़ी उर्दू की बजाए हिन्दोस्तानी लबो-लहज़े वाली भाषा से काम लेते हैं। बेहद सलीस और मफ़्हूम को सीधे पहुंचाने वाली आसान ज़ुबान। हिन्दी भाषी रीडर को भी लुग़त (डिक्शनरी) उठाने की ज़हमत नहीं। मौजूदा वक़्त के फ़िक्रो-फ़न से लबरेज़ उनके कई-कई अश्आर बेहद जदीद और सीधे ज़हन में उतर जाते हैं। कहीं बनावट नहीं, कोई दिखावा नहीं। मैं उन्हें ठीक से नहीं जानता लेकिन इन ग़ज़लों से उन्हें सरापा समझ तो रहा ही हूँ।''- **गुलज़ार**

अपनी इस ग़ज़ल यात्रा के बारे में खुद प्रदीप बताते हैं - ''इत्तेफ़ाक से मेरी किशोरावस्था एवं घनघोर जवानी (1958 से 1970) एक मुस्लिम बहुल इलाके में गुज़री। चारों ओर मुसलमान और मुस्लिम संस्कृति वाला छोटा-सा एक खंडहर नुमा विपन्न कस्बा। अधिकतम आबादी बत्तीस हज़ार। यह अतीत में एक मुस्लिम शासक द्वारा क़िले के परकोटे में बसाई गई मुस्लिम रियासत थी। आज़ादी आने के बाद रियासतें

चली गईं और एक नए रूप में बस्तियाँ बसने लगीं। यह बस्ती भी अपने पारंपरिक रियासती नाम 'ऐलिचपुर' से हट कर 'अचलपुर' कहलाई जिसमें स्वातंत्र्योत्तर विकास के साथ ही हिन्दू और महाराष्ट्रीयन लोग भी शामिल होते गए। संक्षेप में जिस अचलपुर शहर में मैं अपने परिवार के साथ जी रहा था, वहाँ बहुत बड़े प्रतिशत में मुस्लिम समाज तथा बहुत छोटे प्रतिशत में हिन्दू और मराठी समाज के लोग थे। यह अचलपुर शहर आज भी जस का तस महाराष्ट्र के अमरावती जिले में अवस्थित है। उतना ही विपन्न, ख़स्ता हाल और अबाध ज़िन्दगी जीता हुआ।

मेरे पिता मध्यप्रदेश से इस अचलपुर में एक सिनेमा टॉकीज़ के मैनेजर पदस्थ होकर आए थे। हमारा भरा-पूरा परिवार था। मेरी उम्र कोई 12 या 13 वर्ष। मुस्लिम समुदाय इस सीमा तक बहुसंख्यक था कि 'बियाबानी' नामक जिस मुहल्ले में हम रहते थे, वहाँ एक मात्र हिन्दू परिवार हमारा ही था। शहर में कुल जमा पाँच मन्दिर और लगभग तीस मस्जिदें थीं। सुबह की अज़ान सुनकर हमारी भी नींद खुलती थी। यह सामुदायिक सौहार्द्र से भरपूर नगर था। इतने लम्बे-चौड़े इतिहास में कभी, कहीं कोई जातिगत दुर्घटना न सुनी गई। एक बड़ा मीठा-सा माहौल चारों तरफ़ रहता था। हमारा परिवार विस्थापित होकर मध्यप्रदेश के एक बड़े शहर से आया था परंतु शहर की मिलनसार प्रकृति ने शीघ्र ही हमें अपना लिया और ज़िन्दगी मस्ती में कटने लगी।

यह मेरे हाई स्कूल के दिन थे। हाईस्कूल के तीन साल और बाद के कॉलेज के तीनों सालों में मेरी अत्यन्त आत्मीय मित्र मंडली उर्दू-भाषी मुस्लिम दोस्तों की ही रही। हालाँकि मेरी शैक्षिक व पाठ्यक्रम की भाषा हिन्दी थी परन्तु मेरा गुज़ारा उन्हीं दोस्तों में होता। मुझे अच्छी तरह याद है कि बी.ए. फाइनल की क्लासेज़ में हम हिन्दी के विद्यार्थी कुल जमा बारह-पन्द्रह ही थे, शेष सभी उर्दू या मराठी मीडियम के थे।

हालाँकि अचलपुर भौगोलिक रूप से बहुत पिछड़ा शहर था, परन्तु इसकी एक ख़ासियत बहुत ज़ोरदार थी कि वहाँ शायर बहुत अच्छे थे। अशिक्षा और ग़रीबी के बावजूद शायर उम्दा और पर्याप्त संख्या में थे। शहर में उर्दू कवि-गोष्ठियाँ नियमित रूप से होती रहती थीं जिन्हें 'नशिस्त' कहा जाता था। मेरे समवयस्क मुस्लिम मित्र अपने साथ मुझे भी वहाँ कविता सुनवाने ले जाते थे। मुझे वह सब सुनना बहुत अच्छा लगता। लगता कि मुझे भी कुछ ऐसा करना चाहिए। उस उम्र में मुझे इस बात का ज़रा भी इल्म न था कि मेरे भीतर भी कला के जीवाणु रेंग रहे हैं। उन गोष्ठियों यानी नशिस्तों में ज़्यादातर ग़ज़लें पढ़ी जातीं। हर शायर ग़ज़ल के शेर पेश करता। उनका अन्दाज़े-बयां बड़ा ही हृदयग्राही होता। मैं बड़ा ही प्रभावित होता। घर आकर अकेले में ग़ज़ल कहने की कोशिश करता। हालाँकि सफलता मुझे बिल्कुल न मिलती लेकिन इतना तो मैं समझ ही गया कि ग़ज़ल की वास्तविकता क्या है। उसकी वैज्ञानिकता क्या है और कैसे छा जाता है उसका जादू! एक बड़ी घटना जो इस अचलपुर शहर में बिला नागा हर वर्ष होती थी, वह ईद के बाद तीसरे दिन होने वाला ऑल इंडिया मुशायरा था। यह मेरे लिए हर बार एक चमत्कारिक अनुभव होता था। शायरी की उन महान महफ़िलों ने मुझे बहुत आन्दोलित किया। और धीरे से ग़ज़ल ने मेरे दिल में पक्का घर कर लिया।

ग़ज़ल में मेरी गहरी दिलचस्पी से इसके रहस्य मेरे सामने खुलने लगे, खुलते गए। मैंने देव नागरी में उपलब्ध उर्दू के अधिकतम शायरों का गहराई से अध्ययन किया। यह हिन्द पॉकेट बुक्स का ज़माना था। हिन्दी के साथ-साथ ऊर्दू की लोकप्रियता को भुनाने के लिए यह प्रकाशन उर्दू प्रकाशन में भी अग्रणी था। इससे मुझे ग़ज़ल के अध्ययन में काफी सुविधा हुई और प्रेरणा भी। ग़ज़ल की ओर गहरे झुकाव का एक और मनोवैज्ञानिक कारण था। पिता सिनेमा मैनेजर थे। प्रायः हर फिल्म हमारे परिवार को देखने मिलती थी। यह युग हिन्दी सिनेमा का

प्रदीप चौबे की ग़ज़लें

चाहता है पेड़ बस
धूप, पानी और क्या
प्रेम का मतलब तो प्रेम
इसके मानी और क्या
रंग, मस्ती, ख़्वाब, फूल
नौजवानी और क्या
शोरगुल, गर्दो-ग़ुबार
राजधानी और क्या
शाप भी, वरदान भी,
ज़िन्दगानी और क्या!

● ● ●

हम क़ितने नादान रहे
अपने से अनजान रहे
मेरी क़ोशिश इतनी है
मुझमें इक इन्सान रहे
अपने मसीहा से ज़हना
कुछ मेरा भी ध्यान रहे
रामायण, गीता के संग
ग़ज़लों का दीवान रहे
एक ज़माना था प्यारे!
सुख मेरे दरबान रहे
फिर वो ज़माने भी आए
दुःख बरसों मेहमान रहे

स्वर्णयुग था। सामाजिक सरोकारों से जुड़ी सोद्देश्य फिल्में खूब आती थीं। फिल्मों का प्रमुख आकर्षण ढेर सारे गीत और उनमें बयां कर्णप्रिय संगीत होता था। उस समय के चमकदार और लोकप्रिय गीतकारों में अधिकतम गीतकार कुछ अपवादों को छोड़कर उर्दू-भाषी मुस्लिम ही थे। जैसे साहिर, शकील, मजरूह, हसरत, राजेन्द्र कृष्ण, राजा मेहदी अली खाँ, असद भोपाली, कैफी आज़मी आदि-आदि। उर्दू के लोकप्रिय नामधारी गीतकार थे जिनके बेशुमार गीतों से फिल्में सजी रहती थीं। यद्यपि समानान्तर रूप से हिन्दी-भाषी गीतकारों का भी जलवा था, जैसे शैलेन्द्र, भरत व्यास, इन्दीवर, प्रदीप आदि भी हिन्दी सिनेमा के आधार स्तंभ गीतकार थे परन्तु समूची फिल्म में उर्दू का वातावरण ही छाया रहता था। गीतों में भी और फिल्म के संवादों में भी। यद्यपि इन सभी फिल्मों को प्रमाण-पत्र 'हिन्दी भाषा' का ही दिया जाता था परन्तु वास्तविकता यही थी कि व्यवहार में उर्दू या हिन्दोस्तानी ज़बान ही छाई हुई थी। इस कारण भी मेरे लिखने-पढ़ने और बोलने पर उर्दू का ही अधिकार रहा। कहने का अर्थ यह कि उर्दू ने पूरी तरह मेरे सामान्य जीवन व व्यवहार को अपनी गिरफ्त में ले लिया। ग्रेजुएशन पूरा होने तक मैं ठीक-ठाक सी ग़ज़ल कहने लगा था। शहर के गुणवंत और परिपक्व शायरों का आश्रय भी मुझे खूब मिला। उन्हें एक हिन्दी-भाषी या कहिए हिन्दू शख़्स का उर्दू की तरफ़ खिंचना और ग़ज़लें कहना अच्छा लगता। वे मेरी बहुत मदद करते। अच्छा-बुरा सब ठीक करते। उनकी सोहबत और मुहब्बत से मुझे ग़ज़लें कहने के शऊर का बहुत लाभ मिला। उनमें कइयों के नाम और एहसान मुझे आज भी याद आते हैं।''

तो ये थी प्रदीप के उर्दू ग़ज़ल की ओर खिंचाने की कहानी। हास्य व्यंग्य की ओर लौटने का श्रेय वे पवन दीवान और रामावतार चेतन को देते हैं। छत्तीसगढ़ और ग्वालियर के अपने अनुभवों को शेयर करते हुये वे कहते हैं- ''छत्तीसगढ़ के एक अत्यन्त लोक्रप्रिय संत-पुरुष जो जन-कवि भी थे, पवन दीवान। वे सचमुच ही संत-पुरुष थे। छत्तीसगढ़ी और हिन्दी में गीत लिखते थे। पूरे छत्तीसगढ़ के काव्य-मंचों और सामाजिक जीवन में उनकी तूती बोलती थी। उनके अनन्य प्रेम और सान्निध्य का मुझे सौभाग्य मिला। बातचीत के मेरे विनोदी लहजे के वे बड़े प्रेमी थे। उन्होंने मेरे विश्वास के विरुद्ध मुझे यक़ीन दिलाया कि मेरे भीतर एक सफल हास्य-कवि की पूरी संभावना है। अस्ल में उन्हें अपने काव्य-मंच 'बिम्ब' के लिए एक हास्य-कवि की आवश्यकता थी। मुझमें वे यह संभावना तलाशते थे। मुझे यह असंभव तथा अव्यावहारिक जान पड़ता था। मैं अहर्निश ग़ज़ल-ऐडिक्ट था, कुछ और सोच ही नहीं सकता था, परन्तु कहानी को बहुत संक्षिप्त कर देने के लिए मुझे कहना पड़ेगा कि मुझे समझा-समझा के पीछे पड़-पड़ के उन्होंने मुझसे कुछ हास्य कविताएँ लिखवा ही लीं। आश्चर्यजनक रूप से वे जनता में सफल रहीं, एक सफल हास्य-कवि के रूप में मेरी तत्कालीन छत्तीसगढ़ में खाँटी पहचान बन गई और बैक-ग्राउंड में ग़ज़ल-संसार भी फूलता-फलता रहा।

ग्वालियर पहुंचने के बाद सौभाग्य से मेरा सम्पर्क अनायास मुम्बई के श्री रामावतार 'चेतन' से हुआ। वे मुम्बई की एक जानी-मानी साहित्यिक शख़्सियत थे। उनका सालाना 'चकल्लस' हास्य-महोत्सव एक बहुत बड़ा प्लेटफॉर्म था जिसका पूरे देश में दबदबा था। इस 'चकल्लस' समारोह ने कई अनजान मगर सुयोग्य प्रतिभाओं को अवसर देकर बड़ा

बनाया। मुझ पर भी चेतन जी की कृपा रही। उन्होंने लम्बे से तक 'चकल्लस' में मेरा उपयोग किया। संक्षेप में कहूँगा कि आज हास्य-व्यंग्य में मैं जो कुछ हूँ, जितना भी हूँ, उनकी सदाशयता से हूँ।''

उनसे अक्सर मुलाक़ात अचानक किसी कवि सम्मेलन में, ट्रेन या हवाई जहाज में यात्रा करते हुये या वनमाली सृजन पीठ के किसी कार्यक्रम में हो जाती थी। एक बार वे और विनीता भाभी पूरा दिन निकाल कर घर आये थे और हम लोगों के साथ रहे। मेरा घर देखा, इंस्टीट्यूशन में साथ गये, बहुत देर तक स्टूडियो में बैठे और होलियाँ तथा कविता यात्रा सुनते रहे। इस बीच कई बार उन्होंने 'शानदार' कहा, कई बार उनकी आँखें भीगीं, कई बार उन्होंने भैया, आनंद चौबे, दादा और परिवार के अन्य सदस्यों को याद किया। मेरी कहानियों या उपन्यासों पर पूरी तरह मुतमईन होने के बाद वे लंबे फोन किया करते थे, कुछ सलाहियत भी कुछ तुलना भी। मैं कह सकता हूँ कि मुझ पर उन्हें गहरा स्नेह और गर्व दोनों थे।

इस बार ग्वालियर से लौटे करीब दस दिन ही हुये थे कि उनके निधन की ख़बर आ गई। अभी तो मैं उनकी ग़ज़लों और रचना संसार से परिचित ही हो रहा था। उस पर उनसे बात करने का अवसर नहीं मिला। ग्वालियर में उनकी अंतिम यात्रा में हमारा पूरा परिवार और ग्वालियर का उनका पूरा वृहद् परिवार शामिल था। अशोक चक्रधर, संपत सरल, अरुण जेमिनी सहित हास्य व्यंग्य के सभी दिग्गज। सबकी ज़ुबान पर एक ही बात - चौबेजी हमारे दोस्त थे, और फिर उनका कोई किस्सा। एक अबूझ किस्म की निराशा। कुछ बहुत प्यारी चीज़ गुम जाने का दुख। एक आशा - अभी कुछ दिन और रहते।

इस बार ग्वालियर से एक ख़ालीपन और सेंस ऑफ लॉस के साथ लौटा। उसमें प्रदीप के साथ-साथ शैल भैया, दादा और परिवार के बुजुर्गों की याद भी शामिल थी। आँसू आना ही चाहते थे पर मैंने प्रदीप के ठहाकों की याद करते हुये उन्हें रोका।

निश्चय किया कि उसकी स्मृति में हास्य व्यंग्य का एक राष्ट्रीय सम्मान शुरु करुंगा। देखिये, कब हो पाता है!

फिलहाल तो मेरे साथ हैं उसके ठहाकों का उद्घोष और ग़ज़ल की संवेदनशील, सलीकेदार रवायत।

संस्मरण

आख़िर संगीत क्या है? स्वरों का संयोजन है ना। बस, थोड़ा अभ्यास और थोड़ा संस्कार चाहिए। सुनने में अच्छा लगा और मन प्रफुल्लित हो गया। ताज़गी आ गई। यही तो संगीत की सार्थकता है।

वजिलों काहार बीना मधुर स्वरे...

रमाकान्त श्रीवास्तव

तुमि केमोन करे गान करो हे गुनी
आमि आबाक होये सुनी, केवल सुनी
सुरेर आलो भुवन फेलेछे
सुरेर हवा चले गगन बेये
पाषाण टूटे बेकुल बेगे धेये
बोहिया जाय सुरेर सुर धुनि

– रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कैसा अद्भुत गाते हो तुम हे गुणी
अवाक होकर मैं सुनता हूँ, केवल सुनता हूँ
सुर का आलोक फैला है सम्पूर्ण भुवन में
बहता है आकाश में केवल सुर का समीर
स्वर-ध्वनि से टूटकर बहे जा रहे हैं
पाषाण व्याकुल वेग से।

भारत की युवा पीढ़ी के प्रसिद्ध सितार वादक बुद्धादित्य मुखर्जी के पिता विमलेन्दु मुखर्जी उन दिनों इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छत्तीसगढ़-तब का मध्यप्रदेश) के कुलपति थे। मैं हिन्दी विभाग में रीडर था। हम लोग उन्हें 'दादा' कहते थे। वे स्वयं कलाकार थे। संगीत के प्रसिद्ध गुरूओं का सान्निध्य उन्हें मिला था। पेशे से वे इंजीनियर और प्रशासक थे। उनकी एक अन्य विशेषता उनके अद्भुत कलागुरू होने में भी थी। अपने पुत्र को संगीत कला की ऊँचाई तक पहुँचाने में उनके मार्गदर्शन का सबसे बड़ा हाथ था। सितार को वाद्य की प्रकृति, विशेषता और सीमा के अनुसार बजाने के वे हिमायती थे। रागों के प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध में भी उन्होंने चिन्तन किया था। शायद कुछ लोगों को यह न मालूम हो कि उनके योग्य पुत्र बुद्धादित्य भी इंजीनियरिंग के मेधावी छात्र रहे हैं पर उन्होंने पूरम्पूर कलाकार बनना तय किया। आज वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कलाकार हैं। हाल ही उन्हें भारत सरकार ने पद्म पुरस्कार के लिए चुना है।

तो, दादा ने पहले अपनी हथेलियों को देखा। काँच के गोल पेपरवेट को उल्टा करके टेबल पर घुमाया। फिर उसे यथास्थान रखकर

'गलत सोचते हैं आप! सीखा हुआ आदमी राग पहचान लेता है, किन्तु राग का आनन्द उठा पायेगा या नहीं, ये कहना मुश्किल है।' ... दादा मगन होकर हँसे। कुर्सी से फिर रच-मच, रच-मच आवाज़ आई। कुछ क्षणों के बाद दादा ने सवाल किया- 'ए बताइए कि अच्छी कविता का आनन्द उठाने के लिए काव्यशास्त्र जानना जरूरी है क्या?

अपनी बड़ी रिवाल्विंग चेयर पर पीठ टिकाकर आराम से बैठ गये। कुर्सी से रच-मच, रच-मच आवाज़ आई। मेरी तरफ गौर से देखा, प्रसन्न मुस्कराहट के साथ उन्होंने प्रश्न किया- 'आप अइसा सवाल क्यों पूछ रहे हैं?

मैंने फिर अपना राग छेड़ दिया कि संगीत का श्रोता मैं वर्षों से रहा हूँ। भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रति गहरा लगाव होने के बावजूद मेरा ज्ञान अल्प है। जितना थोड़ा बहुत संगीत मैंने सीखा (सितार में 'मध्यमा' का डिप्लोमा मात्र) उतने से रागदारी संगीत की बारीकियाँ समझना संभव नहीं है। कभी-कभार राग को पहचान लेना, सम के आवर्तन का मज़ा ले लेना या आलाप के गाम्भीर्य को आत्मसात करना या सनसनाते शीतल पेय जैसी झाले की त्वरा का आनन्द लेना अलग बात है, किन्तु मैं संगीत के चरम आनन्द तक पहुँचना चाहता हूँ।

दादा ने मेरी बातें गौर से सुनीं, फिर पूछा 'ए बतलाइए कि आप जब संगीत सुनते हैं तो आपको आनन्द आता है?

मैंने कहा - 'बहुत आनन्द आता है।'

'तो और क्या चाहते हैं आप? अगर आपने राग पहचान भी लिया तो क्या फरक पड़ेगा?

'पर दादा', मैंने टोका-'जो लोग संगीत सीखे हुए हैं, वे उसकी बारीकियों को समझकर ज़्यादा मज़ा लेते होंगे।'

'गलत सोचते हैं आप। सीखा हुआ आदमी राग पहचान लेता है, किन्तु राग का आनन्द उठा पायेगा या नहीं- ये कहना मुश्किल है।' दादा मगन होकर हँसे। कुर्सी से फिर रच-मच, रच-मच आवाज़ आई। कुछ क्षणों के बाद दादा ने सवाल किया- 'ए बताइए कि अच्छी कविता का आनन्द उठाने के लिए काव्यशास्त्र जानना जरूरी है क्या?

'नहीं, बिल्कुल नहीं।'

'बस, यही सूत्र संगीत पर लागू है। आखिर संगीत क्या है? स्वरों का संयोजन है ना। बस, थोड़ा अभ्यास और थोड़ा संस्कार चाहिए। सुनने में अच्छा लगा और मन प्रफुल्लित हो गया। ताज़गी आ गई। एई तो संगीत की सार्थकता है। हम तो यही समझ सका है।'

इस तरह दादा ने मुझे एक कुण्ठा से मुक्त किया और मैं इसमें भी गर्व का अनुभव करने में सक्षम हुआ कि मैं संसार के श्रेष्ठतम संगीत का अच्छा श्रोता हूँ। भले ही संगीत के तकनीकी पहलुओं का ज्ञाता नहीं हूँ, पर उसे सुनने का अधिकारी संगीत के पण्डितों से कम नहीं हूँ।

एक अरसे से मेरे मन में यह प्रश्न बार-बार उठता रहा है कि सैकड़ों वर्षों की अटूट परम्परा और साधनारत कलाकारों की प्रतिभा से पुनर्नवा भारतीय संगीत का तलदर्शी आनन्द कैसा होता होगा? जो कुछ हमें मिलता है, वही शब्दातीत है, तो जो कुछ छूट रहा है यदि वह भी हस्तगत हो पाता, तो आनन्द का रूप क्या होता! यह भी लगता कि क्या ब्रह्माण्ड की तरह ही संगीत के आनंद के किसी छोर की कल्पना दुष्कर नहीं है? दादा से बातें करके भक्तिकालीन कवियों की इस स्थापना को मैंने मन से स्वीकार कर लिया कि ज्ञानी का पद बहुत ऊँचा है, लेकिन प्रेमी होना कम गौरव की बात नहीं है।

सुरम्य शख़्सियत

बलराम पाठक

बलराम पाठक सभी के आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। फिर जिसने उनकी मींड़ का चमत्कार देखा-सुना हो, जिसमें स्वर माधुर्य की अन्तिम बूँद को भी वे निचोड़ लेते थे, वह उनकी कला पर मोहित कैसे नहीं होता!... *इस अज़ीम शख़्सियत के साथ बिताए वक्ती दौर की आहटें साझा करता रमाकान्त श्रीवास्तव का एक और मनछूता संस्मरण।*

पिछली सदी के सातवें-आठवें दशक तक भी इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ में कितने ही प्रसिद्ध कलाकारों का आगमन होता था। घरानेदार कलाकार भी आमंत्रण मिलते ही यहाँ आ जाते थे और अपनी कला से विद्यार्थियों और रसिकों के मन-मस्तिष्क को आलोकित करते थे। मेरी स्मृति में ऐसे कई प्रसिद्ध कलाकारों के नाम हैं, जो यू.जी.सी. एक्टेंशन लेक्चर सीरीज़ के अन्तर्गत भी यहाँ खुशी-खुशी आये। उनमें से अधिकांश यहाँ के आत्मीय आतिथ्य से अभिभूत होकर वापस जाते थे। छोटे से शहर में नागरिकों से मिले प्रेमपूर्ण व्यवहार, आसपास का ग्रामीण परिवेश, प्रकृति से निकटता उन्हें प्रभावित करती। उस समय खैरागढ़ आने वाले विभिन्न विधाओं के विद्वानों और कलाकारों से (उनमें विश्वनाथ त्रिपाठी, सोमदत्त, कमला प्रसाद, भगवत रावत, धनंजय वर्मा, नामवर सिंह, नागार्जुन, काशीनाथ, प्रयाग शुक्ल, राजेश जोशी जैसे साहित्यकार भी थे) मैंने यह सुना था कि कला संगीत विश्वविद्यालय में आना अपने आपमें अनोखा अनुभव है।

मध्यप्रदेश सरकार की भरपूर उपेक्षा के बावजूद विश्वविद्यालय के अस्तित्व को देश के कलाकार सम्मान दे रहे थे। छत्तीसगढ़ राज्य का बनना तो दूर, उसके बनने की कल्पना भी फीकी और आधी-अधूरी सी थी। केवल कुछ संवेदनशील

साहित्यकारों के प्रयासों में वह एक स्वप्न थी। कुछ वर्षों तक विश्वविद्यालय मध्यप्रदेश के संस्कृति विभाग के अन्तर्गत कार्यरत रहा। ऐसा सम्भवत: संस्कृति विभाग का दायरा और वज़न बढ़ाने के लिए किया गया था। जहाँ तक विश्वविद्यालय का प्रश्न है, उसका तो वज़न घटा था, क्योंकि संस्कृति विभाग का सारा ध्यान भारत भवन को ऊँचाई देने में ही लगा था, जहाँ मध्ययुगीन कला-शिक्षा-पद्धति का नया अवतार गढ़ने का व्यक्तिवादी प्रयोग चल रहा था। बेशक भारत भवन एक प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में ख्यात हुआ, जो प्रशंसनीय है। कलाकारों की प्रतिष्ठा और आर्थिक स्थिति में इज़ाफा हुआ, किन्तु कला-संस्कृति जन-सामान्य, विद्यार्थियों, शोधार्थियों, कला शिक्षकों से दूर हटकर विशिष्ट जनों के बीच सिमटती चली गई। विभाग महान कलाकारों को गौरवान्वित कर रहा था, किन्तु उनकी कला को देखने-सुनने वाले समझने के लिए लालायित जिज्ञासुओं की उपेक्षा कर रहा था। ज़ाहिर है कि जिज्ञासु केवल राजधानी में और प्रशासकों की विशिष्ट सूची में भर नहीं होते।

विषम परिस्थितियों में, साधनहीन रहकर भी भारतीय संगीत की परंपरा को वहन करने वाली निरन्तर संकटग्रस्त होती संस्थाओं और उनमें काम करने वालों को संस्कृति विभाग के संस्कृति उद्धारक हेय दृष्टि से देख रहे थे। संस्थागत शिक्षण के विरोध का भूत उन्हें ग्रस रहा था, जबकि न केवल भारत भवन, बल्कि उसकी शाखाएँ भी संस्थाएँ ही थीं। यह विस्तृत खेती को नष्ट करके हाईब्रीड बीजों से उगाई जाने वाली बंध्या फसल वाले फार्म हाउस के निर्माण जैसा शानदार प्रयास था।

सार्थक कर्म और सार्थकता के भ्रम में अंतर नहीं किया गया। केन्द्रीयता का दर्शन नये किस्म की दरबारी संस्कृति को जन्म देता है। दरबार का अर्थ ही कुलीन-नागर भद्रजनों का समूह है। सामान्य-जन से इतर, उच्चासन पर आसीन कुछ प्रतिभा-सम्पन्न तथा कुछ यशकामी मध्यम और सामान्य श्रेणी के चापलूस। संस्कृति विभाग एक साथ महानता और क्षरणशीलता का केन्द्र बना। यह सोचा ही नहीं गया कि अधिकार सम्पन्न अधिरचना जब दूसरों के हाथ में जायेगी, तब उसका कैसा-कैसा दुरूपयोग सम्भव होगा?

तारीख़ और सन मुझे याद नहीं है, पर पुरानी बात है- सत्तर के दशक की। पण्डित जसराज का खैरागढ़ आगमन हुआ। ऐसे ख्यातिप्राप्त कलाकार के कार्यक्रम के लिए बेहद उत्सुकता और उत्तेजना थी। परिसर में और नगर में भी। विश्वविद्यालय के भीतरी आँगन के मंच पर कार्यक्रम हुआ। कटाकट भीड़ थी। पण्डित जसराज जैसे सुदर्शन हैं, वैसा ही उनका गायन है- गहन और मधुसिक्त। डेढ़-दो घण्टे तक उनके गायन का श्रोताओं ने आनन्द लिया। कार्यक्रम सम्पन्न हुआ और धन्यवाद-प्रकाश हो ही रहा था कि उन्होंने सबको चकित कर दिया। बीच में ही खड़े होकर उन्होंने माइक अपने हाथ में लिया और बोले- 'आज गाकर मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ। कहीं और गाने में तथा इस विश्वविद्यालय के मंच पर गाने में फ़र्क है। मैं एक दिन और रूककर कल फिर गाना चाहता हूँ।'

अंधा क्या चाहे-दो आँखें। देर तक तालियाँ बजती रहीं। कुलपति ने मंच पर जाकर इस दिलदारी का आभार माना। मैं इतना ज्ञानी नहीं हूँ कि जान पाऊँ कि पण्डित जसराज की कौन-सी प्यास अधूरी रह गई थी। दूसरी शाम,

सोचता हूँ क्या ऐसी घटनाएँ आज घटित हो सकती हैं?

'ऐसी' का मतलब ठीक ऐसी ही नहीं, बल्कि भावना और संवेदनाओं के स्तर पर कुछ इस तरह की। यों अपने कला माध्यम पर जितना विश्वास और गर्व संगीतकारों को है, उतना शायद दूसरे माध्यम के रचनाकारों को नहीं है। वे आज भी विश्वास करना चाहते हैं कि किसी के गाने से पानी बरस सकता है या दीपक जल सकता है। साधना, आराधना, तपस्या, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष जैसे शब्दों का प्रचलन भी उन्हीं के बीच अधिक है। दूसरी ओर भौतिक आकर्षण और अनुबन्धपटुता, मोलभाव के तौर-तरीके भी दिखलाई देते हैं। जो कलाकार ऊँचाई पर पहुँच गया और बाज़ार में स्थापित हो गया, उसकी प्रतिबद्धता कला के आध्यात्मिक पहलू से बिल्कुल नहीं रह जाती, किन्तु उसकी शब्दावली वही रहती है, जो आज से सौ वर्ष पहले थी। सभी के साथ ऐसा हो, यह जरूरी नहीं- पर कई सफल और नामचीन कलाकारों में यह कमजोरी सुस्पष्ट दिखलाई देती है। अब बहिरंग कलाकार का है, पर अन्तर्मन व्यवसायी का है। इस स्थिति पर रोने का कोई अर्थ नहीं रह गया है, क्योंकि यह वक्त की रफ्तार है जिसकी लगाम महाजनी सभ्यता के हाथों में है।

अपेक्षाकृत एक छोटी सभा यानी विश्वविद्यालय के दरबार हॉल में जसराज ने फिर गायन प्रस्तुत किया। बसन्त रानाडे (जो उन दिनों वायलिन के प्राध्यापक थे और कला जगत में उनकी पहचान थी) से मुखातिब होकर जसराज बोले– 'अरे यार रानाडे, वहाँ कहाँ बैठे हो। मंच पर आओ वायलिन लेकर।'

उस महफिल की बात ही अलग थी। रानाडे ने वायलिन पर अद्भुत संगत प्रदान की। जसराज ने मस्ती से गाया। वहाँ उपस्थित श्रोतागण सही मानी में श्रोता थे– सुर के प्यासे। जिस संगीत सभा में कलाकार और रसिक एक साथ तृप्त हो सकें और उनके बीच की दूरी समाप्त हो जाए, वहाँ मुक्ति का आभास होता है। उस आनन्द को कोई भी समीक्षा या रिपोर्ट शब्दों में नहीं बाँध सकती। संगीत और चित्रकला की रिपोर्टिंग तो इन दिनों वैसे भी सपाट और सतही शब्दजाल की तरह होती है। जहाँ तक मुझे याद है, जसराज को बहुत कम ही भुगतान किया गया था। विश्वविद्यालय के नियमों को कुछ शिथिल करके फाइल का पेट भरते हुए संस्था की सामर्थ्य से कुछ अधिक। जसराज ने उसमें से सौ रूपये छात्रों को दे दिये। उस समय के सौ रूपये!

●●●

रचनात्मक प्रतिभा की एक त्रासदी यह है कि वह अपेक्षित प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि पा सकेगी या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता। कला की समीक्षा की बड़ी–बड़ी पोलें हैं। जब अभिव्यक्ति के सर्वाधिक स्पष्ट और प्रकाशित माध्यम साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा दुर्बल और एकांगी है, तो अन्य कला माध्यमों की तो बात ही छोड़िए। साहित्य में जब बेहद सीमित और प्रच्छन्न लक्ष्य प्रेरित अध्ययन तथा व्यक्तिगत पसन्दी–नापसन्दगी के आधार पर (कई बार प्रायोजित भी) की गई नाम उछालू समीक्षा का बाज़ार फल–फूल रहा है, तो अन्य विद्यालयीन कला–समीक्षा ने क्या गुनाह किया है। ठीक है कि बिना प्रतिभा के प्रसिद्धि नहीं मिलती, किन्तु प्रतिभाशालियों के भी वर्ग हैं। जिने पास अपनी प्रसिद्धि को विस्तार देने के लिए साधन, चतुराई और नेटवर्क है, उसका नाम यश के आसमान पर तारे की तरह चमकने लगता है।

सितार वादक पण्डित बलराम पाठक जैसे गुणी कलाकार यश का वैसा विस्तृत आकाश नहीं पा सके, जिसके वे निश्चित ही अधिकारी थे। यह भी है कि उनमें उस चतुराई का अभाव था जिसकी आवश्यकता आज के युग में है।

आज के विज्ञापन आधारित व्यावसायिक समय में संगीत और चित्रकला के क्षेत्र में रणनीति भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि किसी कलाकार पर (बेशक प्रतिभा सम्पन्न) अल्पज्ञ राजनेता की मेहरबानी के साथ ही किसी बड़े अधिकारी का वरदहस्त भी हो गया तो उसकी कीमत लाखों तक पहुँच जाती है। चुके हुए कलाकारों को भी कई बार महत्वपूर्ण मंच मिलते हैं, जबकि कई गुणी कलाकार उपेक्षित रह जाते हैं। साहित्य में तो कबीर, निराला या मुक्तिबोध की कविता प्रतीक्षा कर लेती है और अपने अन्दर विद्यमान अमृत के बल पर, कभी न कभी अपनी प्रभा से चकित कर देती है। पर ऐसा ही संगीत के क्षेत्र में भी होगा, यह कहना कठिन है।सितार वादक पण्डित बलराम पाठक जैसे गुणी कलाकार यश का वैसा विस्तृत आकाश नहीं पा सके, जिसके वे निश्चित ही अधिकारी थे। यह भी है कि उनमें उस चतुराई का अभाव था जिसकी आवश्यकता आज के युग में है। एक बार नाम होने पर तो नाम बिकता है– इस सूत्र को न समझने के कारण बलराम पाठक, निष्णात कलाकार होते हुए भी सीमित प्रसिद्धि पा सके। कुछ दिक्कत तो उनकी अल्प शिक्षा और दूरस्थ निवास करने के कारण हुई।

●●●

पण्डित बलराम पाठक को इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ के वाद्य विभाग में रीडर के पद पर सन 1972 में आमंत्रित किया गया था। उनके प्रथम दर्शन का चित्र मेरे मन पर अभी भी अंकित है। बंगाली नज़ाकत से धारण की गई शान्तिपुरी धोती। कढ़ाई किया हुआ कुर्ता। मँझोला कद, गौरवर्ण, कन्धे तक लहराते हुए चिकने काले केश। चेहरे पर विनम्रता, ओंठों पर मुस्कान। उन्हें नमस्कार किया तो दोनों हाथ जोड़कर, थोड़ा झुककर उन्होंने अभिवादन किया– 'जी... नमस्कार।' आवाज़ सुनकर मैं चौंक गया। तार सप्तक पर चढ़ी हुई पतली जनाना आवाज़।

घटना बाद की है, पर उसका सम्बन्ध पाठक जी की आवाज़ से है, इसलिए यहीं बयान कर दूँ। पाठक जी खाँटी बिहारी शैली में मुझे 'बाबू' के सम्बोधन से नवाज़ते थे। एक

बार वे मेरे घर आए और उन्होंने बाहर से ही आवाज़ लगाई– वही तार सप्तक तक चढ़ी पतली आवाज़ बाबूऽऽ। उन दिनों मेरे साले साहब मेरे यहाँ आए हुए थे। उन्होंने बाहर देखे बिना, भीतर आकर कहा– 'कोई भद्र महिला आई है।'

बलराम पाठक जब शाम को कक्षा में जाते तो उनके आसपास लोग जुट आते। यह उन दिनों की बात है, जब सितार वाद्य भारत में ही नहीं, विदेशों में भी बेहद लोकप्रिय था। पश्चिमी जगत भारतीय संगीत के माधुर्य और उसकी गहराई के प्रति आकर्षित था। वहाँ के संगीत प्रेमी आश्चर्यचकित थे कि सैकड़ों वर्षों के स्वर संयोजन पर आधारित रागदारी संगीत में कलाकार के व्यक्तित्व प्रक्षेपण की अपार सम्भावनाएँ भी हैं। बीटल सिंगर जार्ज हेरीसन ने पण्डित रविशंकर से सितार सीखा था। यहूदी मेन्युहिन की वायलिन और रविशंकर के सितार की जुगलबंदी के रिकार्ड के बिना संगीत प्रेमियों का संग्रह अधूरा माना जाता था। तो, साज़ की लोकप्रियता और कलाकार की प्रसिद्धि के कारण बलराम पाठक सभी के आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। फिर जिसने उनकी मींड़ का चमत्कार देखा–सुना हो, जिसमें स्वर माधुर्य की अन्तिम बूँद को भी वे निचोड़ लेते थे, वह उनकी कला पर मोहित कैसे नहीं होता। वह अद्भुत बारीकी। वे जब विद्यार्थियों को कुछ बतलाने के लिए साज़ उठाते तो बाहर बरामदे में लोग एकत्रित हो जाते। शाम को कभी–कभार मैं भी उनके पास चला जाता। वे बड़े प्रेम से पास बैठा लेते। मुझे संगीत का अनुरागी जानकर खुद कुछ बजाकर सुनाते। हर संगीतकार की यह इच्छा होती कि पाठक जी के साथ बैठने का मौका मिले।

बलराम पाठक को सुनने का असली वक्त और स्थान तो था– रात को साढ़े नौ–दस बजे के बाद उनके घर का वह गोल कमरा जहाँ बैठकर वे रियाज करते थे। यों, घरानेदार कलाकार अमूमन रियाज़ के समय किसी को उपस्थित रहने की अनुमति नहीं देते।

उनकी पत्नी भी जब वहाँ आतीं तो कभी–कभी इस बात का विरोध करतीं, पर पाठक जी कुछ भिन्न प्रकार के व्यक्ति थे–सीधे सरल। उन दिनों मैं विश्वविद्यालय परिसर में नहीं, बल्कि लाल चन्द्रकुमार सिंह के घर में रहता था।

●●●

मेरे घर के सामने वाली सड़क के उस पार रहते थे ठाकुर महेन्द्र प्रताप सिंह, जो नृत्य विभाग में तबले के संगतकार थे। वे रायगढ़ ज़िले के ग्राम किकिरदा के निवासी थे। तबला और मृदंग बजाते थे। वे अपने क्षेत्र के सम्पन्न और प्रभावशाली किसान परिवार के थे, पर संगीत का शौक उन्हें नौकरी से बाँधे हुआ था। यदि वे अपने इलाके में ही रहते तो अपने प्रभाव के दम पर मज़े से किसी पार्टी के नेता हो सकते थे। उनके पास राजा चक्रधर सिंह की कई बन्दिशें थीं, जो नृत्य के जानकारों के लिए काम्य रचनाएँ मानी जाती हैं।

कभी छत्तीसगढ़ की रायगढ़ रियासत के राजा चक्रधर सिंह का दरबार संगीत और नृत्य का प्रसिद्ध केन्द्र था। देश के नामी–गिरामी कलाकार वहाँ आते और अपनी कला का प्रदर्शन करते। रायगढ़ दरबार के नर्तक द्वय कल्याण–कार्तिक की जोड़ी का खासा नाम था। राजा स्वयं अवनद्ध वाद्य के मंजे कलाकार थे। उससे भी कहीं अधिक कुशल नृत्य की बन्दिशों के रचयिता थे। जानकारों से सुना है कि किसी और से लिखवाकर अपने नाम का ठप्पा लगा लेने वाले कई राजाओं से वे भिन्न थे। उनकी रचनाओं में अपनी किस्म की कल्पना शक्ति है। केवल देह संचालन और गणित का कमाल भर उनमें नहीं है। उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना भी की। उनके वारिसों की नासमझी से वे ग्रन्थ सामने नहीं आये। राजा साहब की कुछ बन्दिशें लोगों के पास हैं। उनमें से कुछ तो अगंभीर कलाकारों के पास केवल अपना मान बढ़ाने का साधन बनकर रह गई। ठाकुर साहब के पास भी राजा साहब की कई बन्दिशें थीं, जिन्हें वे खुले मन से विद्यार्थियों और शोधार्थियों को देते थे। वे जानकारों से चर्चा करते कि उन बन्दिशों के पीछे कल्पना क्या रही होगी।

वे ग़ज़ब के मिमिक थे, इसलिए जहाँ बैठते वहाँ दरबार–सा लग जाता। खुराकी आदमी थे। खाने के ही नहीं, खिलाने के भी शौकीन। उनकी एक दिलचस्प आदत थी, जो किसी और में मैंने नहीं देखी। उन्हें रात दस–साढ़े दस बजे के आसपास भजिया खाने का शौक था। ठण्ड के दिनों में तो उनकी यह रसज्ञता चरम सीमा पर होती। उनका भोजन तो आठ–साढ़े आठ बजे निपट चुका होता। यह शयन पूर्व का भोग होता। भजिया भी बनती थाली भर।

अक्सर रात दस बजे के करीब उनका कोई लड़का नरेश या गुड्डू आता और कहता– 'फूफ चलो। कका भजिया खाये बर बुलात हे।'

मैं जाकर देखता कि ठाकुर साहब बेसब्री से मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। घर में भजिया की सोंधी मनभावन सुगन्ध भरी हैं। निकटस्थ पड़ोसी भी उपस्थित है। ठाकुर साहब अक्सर कहते– 'हड़का के भजिया खाकर और लोटा भर पानी गड़गड़ा कर पीने के बाद नींद लेने का मज़ा ही कुछ और है।'

इस तरह की बदपरहेज़ी का आदी ना होते हुए भी उनका प्रेम भरा आग्रह स्वीकार करके भजिया खानी पड़ती। गरम भजिया तो वह मेनका है, जो किसी भी साधनारत विश्वामित्र की तपस्या को डिगा सकती है और निराला जैसे महान कवि को अपने पर कविता लिखने की प्रेरणा दे सकती है। मैं किस खेत की मूली हूँ भला। दुष्परिणाम की चिन्ता को दरकिनार कर भजिया खाता और ठाकुर साहब के साथ एक बीड़ी पीकर ही घर वापस आता।

बात कहाँ से कहाँ पहुँच गई। हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता। यों चर्चा के केन्द्र में ही सत्संग के अनुभव हैं और ठाकुर साहब की चर्चा किये बगैर बलराम पाठक की वार्ता अधूरी रह जाती, क्योंकि वे ही उन तक पहुँचने के मेरे माध्यम बने थे। ठाकुर साहब स्वयं तो गुणी व्यक्ति थे, पर उससे भी बढ़कर वे गुणीजनों के भक्त थे। बिना किसी स्वार्थ भाव से कलाकारों की सेवा करने में उन्हें आनन्द आता था। कभी गुदई महाराज यानी पण्डित सामताप्रसाद की सेवा कर चुके थे। बतलाया करते थे कि प्रसिद्ध पखावज वादक पागलदास भी उनके गाँव आकर उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके थे। बलराम पाठक बहुत दिनों तक खैरागढ़ में अकेले ही रहे। ठाकुर साहब के श्रद्धाभाव ने उनका मन मोह लिया था। ठाकुर साहब प्रायः रात को साढ़े नौ बजे के आसपास उनके घर जाते थे। वे पाठक जी को छोटे–मोटे कामों में मदद करते। कभी–कभी उन्हें अपने हाथ की बनी मछली खिलाते। यदि पाठक जी चाहते तो रियाज़ में उनके साथ संगत के लिए भी बैठते। मैं भी कभी–कभार ठाकुर साहब के साथ हो लेता। जब पाठक जी के यहाँ पहुँचते तो वे घर में खुटुर–पुटुर करते होते। हमारे पहुँचने पर बहुत खुश होते और जल्दी ही सितार लेकर बैठ जाते। फिर तो समय हमारा होता। ऐसे उदारमना कलाकार कम होते हैं।

एक अद्भुत दृश्य भूलता नहीं है। ठण्ड के दिन थे। रात लगभग साढ़े नौ बजे ठाकुर साहब और मैं पाठक जी के यहाँ चले। तब खैरागढ़ अपेक्षाकृत छोटा, शान्त और स्वच्छ कस्बा था। ठण्ड की रात के नौ बजे के बाद बहुत कम लोग ही मिलते। पाठक जी के यहाँ हम पहुँचे तो उनकी बैठक के किवाड़ उढ़के हुए थे। हमने हल्के हाथ से किवाड़ों पर दस्तक दी तो पाठक जी की आवाज आई– 'आ जाइए। ठाकुर साहब हैं क्या?

हम कमरे में घुसे तो देखा कि पाठक जी अपनी गद्दी पर विराज चुके हैं और साज़ के परदे जमा रहे हैं। उनके सामने बैठे हुए थे तीन किशोर! शक्ल और अपनी धज से वे गरीब घरों के बच्चे लगे–गाय–बकरी चराने वाले बच्चों जैसे। बहुत साधारण कपड़े पहने उन लड़कों की शक्ल से लग रहा था कि वे स्कूल के विद्यार्थी भी नहीं थे। तीनों एकाग्र चित्त होकर पाठक जी को देख रहे थे। सितार मिलाते–मिलाते ही पाठक जी ने मुस्कराकर हमारा अभिवादन स्वीकार किया। स्वागत में कहा–आइए और इशारे से बगल में बैठने के लिए कहा।

पाठक जी अपनी गद्दी पर विराज चुके हैं और साज़ के परदे जमा रहे हैं। उनके सामने बैठे हुए थे तीन किशोर! शक्ल और अपनी धज से वे गरीब घरों के बच्चे लगे–गाय–बकरी चराने वाले बच्चों जैसे। बहुत साधारण कपड़े पहने उन लड़कों की शक्ल से लग रहा था कि वे स्कूल के विद्यार्थी भी नहीं थे। तीनों एकाग्र चित्त होकर पाठक जी को देख रहे थे।

उस समय पाठक जी का सहज रूप से कोमल चेहरा और मासूम लग रहा था– किसी बच्चे की तरह। उनके गोरे चेहरे पर एक कुंचित मेचक लट झूल रही थी, जिसे वे बीच–बीच में सिर को हल्के से झटककर हटाने की कोशिश करते थे। मैं कभी उनकी तरफदेखता और कभी सामने बैठे अद्भुत बाल श्रोताओं को। पाठक जी ने मेरे चेहरे के भावों को समझकर कहा– 'ये हमारे ख़ास श्रोता हैं बाबू।'

मैंने हँसकर पूछा– 'कहाँ से मिले आपको?'

पाठक जी भी हँसे– 'ये तो हमको घर बैठे मिल गये बाबू। ये जब भी इधर से निकलते हैं, हमारा बाजा सुनने आ जाते हैं।'

दरअसल, वे बच्चे लगभग उसी समय पाठक जी के घर के बगल से अक्सर गुज़रते थे। यदि पाठक जी सितार बजाते होते तो वे जिज्ञासावश बरामदे तक आ जाते और वादन सुनते। कभी–कभार कमरे में झाँकने की कोशिश भी करते। एक दिन पाठक जी ने उन्हें कमरे के अन्दर बुला लिया। वे डरते–झिझकते भीतर आए तो पाठक जी ने उन्हें बैठने के लिए कहा था। वे सामने थोड़ा हटकर फ़र्श पर बैठ गये और इस तरह वे ख़ास श्रोता बने। संगीत के ऐसे प्रेमी जो सुर के जादू में बँधकर उनके पास आ गये थे। वे पुरानी कहानियों में वर्णित उन मृगों के अवतार थे, जो राग–रागिनियों को सुनकर, सुध–बुध भूलकर कलाकार तक खिचे चले जाते थे।

आज तो कलाकारों की सबसे बड़ी ट्रेज़ेडी यह है (यदि वे माने तो) कि सबसे पहले पंक्ति में बैठकर उनका संगीत सुनने वाले ज़्यादातर ऐसे मट्ठर लोग होते हैं, जो प्रथम पंक्ति में बैठने के हक़दार किन्हीं अन्य कारणों से होते हैं।

...पाठक जी, ने सितार के परदे जमाकर कहा– 'पहले इनको थोड़ा सुना देते हैं।'

पाठक जी चेहरे पर एक स्निग्ध मुस्कान लिए एक धुन बजाने लगे। गौर से सुनने पर याद आया कि बचपन में शाम ढलने पर, हम भाई–बहन जो प्रार्थनागीत गाते थे उसकी धुन यही थी, सीधी–सरल लेकिन मिठास भरी। ''भगवान प्रणाम तुम्हें करते हम छोटे–छोटे बालक हैं'' यह प्रार्थना उस समय बहुत प्रसिद्ध थी। भीमपलासी के स्वरों में निबद्ध ऋजु–मनोहारी धुन आसान और लुभावनी थी। इन्हीं सुरों में ढालकर अम्मा एक भजन गाती थीं ''बजरंग बली मेरी नाव चली जरा बल्ली कृपा की लगा देना।''

बलराम पाठक की अँगुलियों के जादू ने उसमें स्वरों का भराव करके उसे और भी दिलकश बना दिया था। उसे सुनते हुए उन बच्चों के चेहरों पर खिलते आनन्द को देखकर लगा कि सचमुच वे विशिष्ट श्रोता थे और बेशक वह एक महत्वपूर्ण संगीत सभा थी। अन्तर्मन तक सुरों में भीगकर मुक्ति पाने वाला वैसा श्रोता तो शायद मैं नहीं था, जैसे पाठक जी के सामने बैठे श्रोता थे। हाँ, मेरे लिए वह सभा कुछ अविस्मरणीय कला अनुष्ठानों में एक थी।

पता नहीं, वे अद्भुत संगीत रसिक आज कहाँ होंगे। हो सकता है कि कोई रिक्शा चला रहा हो और कोई वेल्डिंग का काम कर रहा हो, पर मुझे लगता है कि वह धुन अभी उनके साथ होगी तथा उनकी थकान के क्षणों में उन्हें सुकून देती होगी।

उस दिन पाठक जी तुष्ट भाव से देर तक सितार बजाते रहे। ठाकुर साहब ने संगत की। जब हम लौटे तो रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। निस्तब्धता का साम्राज्य था। सुनसान सड़क पर हम अपने पदचाप सुन सकते थे। रात के उस सन्नाटे में मुझे लग रहा था कि दसों दिशाओं से वीणा से निसृत गंभीर आलाप उतर रहा है। मुझे रवीन्द्रनाथ का गीत याद आ गया– बाजिलो काहार बीना मधुर स्वरे।

मेरे साथ भी वह संगीत अभी तक है।

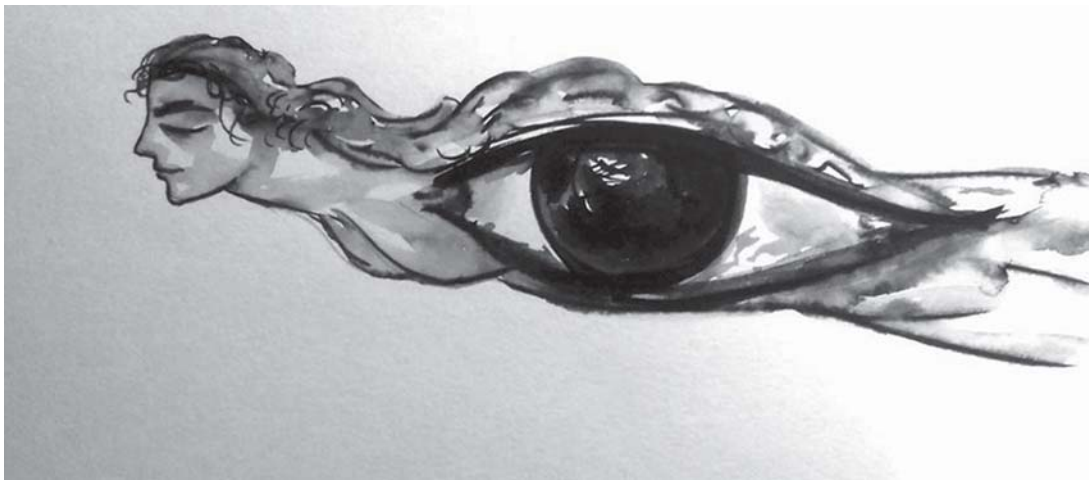

वैश्वीकरण कला के लिए वरदान

पंकज स्वामी

लीक से हटकर सोचने और रचने की फितरत अवधेश वाजपेयी की शख़्सियत और उनकी कलाकृति को निहायत जुदा पहचान देती रही है। रंगों की सोहबत में रमते हुए अवधेश जीवन के उन अछूते–अनपहचाने कोनों में झाँकते हैं जहाँ सच अलग तरह से मौजूद है।

अवधेश

उम्र तब चार–पाँच साल की रही होगी। गाँव के आँगन में उतरती दोपहर का ख़ाली वक्त और माँ की सखियों के समूह में अपनी मासूम मौजूदगी में बेफ़िक्र यह नौनिहाल बस, वक्त के पाँव नाप रहा था। बड़े भाई ने अचानक स्लेट पर चाक बत्ती से एक चित्र बनाया। वे वहाँ से जैसे ही गए, अवधेश ने उसी स्लेट पर, वही चित्र उकेर दिया। दिलचस्प यह कि अवधेश की रची आकृति में रेखाओं का पैनापन और कल्पना का रचाव कुछ ऐसा निखरकर नुमाया हुआ कि जिसने भी देखा हतप्रभ रह गया! अवधेश के लिए यह उकेरना एक नैसर्गिक परिणति थी। वे नहीं जानते थे कि चित्र बनाना भी कला है। लेकिन यह दूर तक अपनी कलात्मक आभा बिखरने वाले कलाकार संभावना की आहट ज़रूर थी।

... और एक दिन चित्र बनाना अवधेश का स्वभाव बन गया। उन्होंने चित्रकला के संबंध में बहुत बाद में गहराई से जाना लेकिन वे इसमें बहुत पहले ही पूरी तरह डूब चुके थे। आर्ट स्कूल में दाख़िला लेते समय अवधेश को मनुष्य के अंतर्द्वंद्व शुरू से आकर्षित करते थे और प्रकृति, प्रकृति रहस्य व सामाजिक विषमताएं उनके चित्र के विषय बनने लगे।

अवधेश स्वीकारते हैं कि चित्रकला का व्यवस्थित अध्ययन जरूरी है। इसके साथ ही वे यह मानते हैं कि इसके लिए अच्छे शिक्षक या गुरू मिलना भी जरूरी है। वे चित्रकला की अकादमिक व्यवस्था से संतुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं कि चित्रकला शिक्षण में वीरानगी है।

दुनिया के चित्रकारों की यात्रा मूर्त से ही आरंभ हुई है वैसे ही अवधेश की भी। उनका मानना है कि मूर्त व अमूर्त दोनों ही कला के महत्वपूर्ण तत्व हैं। मूर्त व अमूर्त चित्रों में, दोनों में आकृति रहती है। एक में आकृति पहचान में आती है, दूसरे में कहीं–कहीं पहचान में आती है।

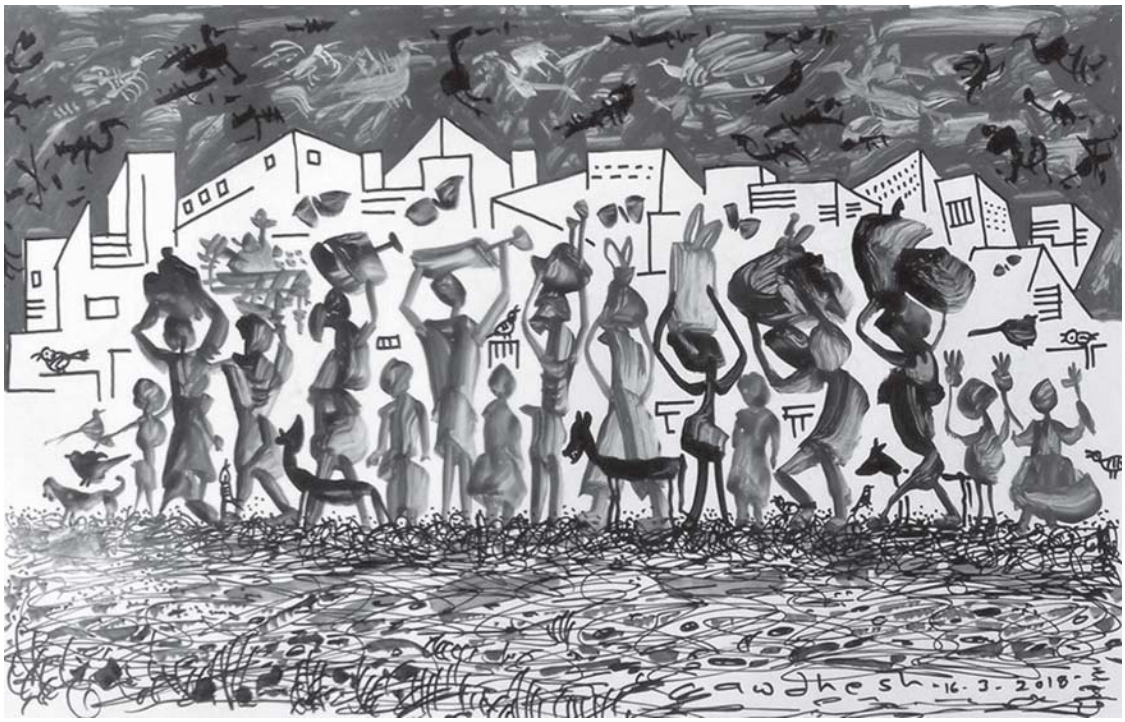

अवधेश

चित्रों के ज़रिए रंगों के संसार में रहने वाले अवधेश ने रंगों का मनोविज्ञान पढ़ा नहीं है और न ही वे इस विषय में पढ़ना चाहते हैं। वे कहते हैं कि सभी लोग हर पल रंगों के साथ रहते हैं। सबसे महत्वपूर्ण रंग मनुष्य के शरीर का है। अवधेश वाजपेयी को मिट्टी के रंग आकर्षित करते हैं। उनका विचार है कि चटख रंग बहुत ही सीमित दायरे में होते हैं। वे पेड़ व शरीर की तुलना करते हुए कहते हैं कि बड़े पेड़ में जिस तरह थोड़े फूल होते हैं, वैसे ही पूरे शरीर में आँख या मुस्कुराहट फूल की भाँति हैं। उनका यह महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है कि चित्रों में रंग ही सब कुछ नहीं होता। रंग एक पुर्ज़ा है, शेष और भी बहुत से तत्व होते हैं।

अवधेश का इस संदर्भ में कहना है कि किसी भी कला में लगातार रहने व बसने से कलाकार व कला प्रेमी दोनों का रूपांतरण होता है।

अवधेश वाजपेयी केनवास, ब्रश व रंगों के मध्य अद्भुत संतुलन रखते हैं। उनका कहना है कि चित्रकार साँस है, तो कला माध्यम शरीर। साँस व शरीर के तालमेल की तरह वे चित्रकला में ब्रश व रंगों का संतुलन करना बनाए रखना बेहतर मानते हैं। उनका मानना है कि चित्रकला में आकार, रंगों के साथ 'ज्ञान' तत्व का होना आवश्यक है।

अवधेश की चित्रकला में साल दर साल व्यापक बदलाव आया है। यह परिवर्तन उन्होंने समझदारी से अपनाया है। वे कहते हैं कि कला में ईमानदारी की समझ श्वास की तरह होती है। दुनिया यदि समझ के साथ विकसित हो रही है, तो उसी प्रकार कला भी समझ के साथ विकसित होती है। सृजनात्मक तत्व वही है, जो पहले थे, उनमें कोई बदलाव नहीं हुआ। कला को समझने के लिए संसार की संरचना की समझ ज़रूरी है। अवधेश कहते हैं कि चित्रकला में बदलाव के स्थान पर रूपांतरण या ट्रांसफार्मेशन शब्द ज्यादा सटीक है। कला के विकास के लिए आप स्वयं जिम्मेदार होते हैं, क्योंकि चीज़ें तो हमेशा मौजूद रहती हैं, परन्तु दृष्टि का विकास करना होता है। इसके लिए विश्व के महान साहित्य, शिल्प, कला, संगीत, फिल्म, वास्तुशल्पि आदि को पढ़, देख व सुन कर लगातार सीखते रहते हैं।

अवधेश की चित्रकला में डॉटिज़्म (बिंदुकला) की अवधारणा अद्भुत है। कहते हैं कि जब स्कूल में पहली बार रेखा की परिभाषा पढ़ी कि बहुत सी बिन्दुओं से मिल कर रेखा बनती है, तभी से, जब भी रेखा चित्र बनाते हैं बिन्दु की अवधारणा साथ रहती, फिर बाद में जाकर वॉन गाग के समकालीन चित्रकार जॉर्ज

स्यूरेट के 'बिन्दुवाद' की अवधारणा जुड़ गई। इसके दायरे में हर चित्रकार ने कुछ न कुछ चित्रित किया। चित्र संरचना की बिंदु (डाट) या बिंदी की अवधारणा सभी चित्रकारों के लिए अलग-अलग है। अवधेश ने चित्रकार के रूप में शुरूआती दिनों में इस अवधारणा को समझ लिया था। जब उन्होंने भारतीय, ऑस्ट्रेलियन, अफ्रीकन, लेटिन अमेरिकन आदिवासी चित्रकला देखी तो उनके भीतर के रचना संसार में खलबची मच गई। उस समय अवधेश बाजपेयी का कार्य क्षेत्र दमोह (बुंदेलखंड) था। बुंदेलखंड के राई नृत्य की प्रसिद्धि विश्व में है। राई आकार की दृष्टि से सबसे गतिवान बीज है और राई नृत्य भी वृत्तीय गति के साथ उन्मुक्त नृत्य है। यहां से अवधेश बिन्दु पर आए। इस तरह उनका बिन्दु या पाइंट थ्री डी में आया। अवधेश बाजपेयी ने गूगल में खोज डाला कि किन चित्रकारों ने थ्री डी में बिन्दु लगाए हैं? इस खोज के ज़रिए उन्हें जानकारी मिली कि चित्रकारों ने टू डी में बिन्दु लगाए हैं। इसके पश्चात अवधेश का बिन्दु मध्यप्रदेश की आदिवासी कला से जुड़ गया। फिर इस बिन्दु का आधुनिकता की ओर रूपांतरण हुआ। उनके अनुसार बिन्दु की अवधारणा सिर्फ आकार नहीं है, समय है। चित्र में प्रयुक्त हुआ बिन्दु लम्बा, मोटा, ऊँचा, खुरदरा, आकृतिपूर्ण हर प्रकार का होता है। उन्हें महान चित्रकार कांद्विस्की का वक्तव्य हर समय याद आता है- 'हर आकृति बिन्दु से प्रारंभ होती है और बिन्दु में ही उसका अंत होता है।' अवधेश बाजपेयी की चित्रकला में बिन्दु केन्द्र नहीं है, बल्कि एक हिस्सा है, टूल है, जिसका वे ज़रूरत पड़ने पर उपयोग करते हैं। बिन्दु ने उनको इसलिए आकर्षित किया, क्योंकि यह अपने आप में पूर्ण आकृति है। बिन्दु प्रकृति जन्य है और वृत्त को छोड़ कर त्रिभुज व चतुर्भुज मनुष्य जन्य है। उनका मानना है कि बिन्दु को जहाँ भी स्थापित कर दें, यह पूरे क्षेत्र व पर्यावरण को अपनी ज़द में ले लेती है। इसके लिए वे आकाश में शुक्र तारा या सूरज का उदाहरण देते हैं। भौतिक विज्ञान में हर कण स्वतंत्र होता है और आश्रित भी। उनका विस्तार सूक्ष्मता की ओर है, न कि विराट की ओर। वे छोटे-छोटे चित्र बनाना चाहते हैं। भविष्य में हम सभी लोग उनके बनाए गए लघु चित्र शीघ्र देख सकेंगे।

अवधेश

नई बहसों के बीच अवधेश तर्क देते है कि जब कबीर बोल या रच रहे थे, तब उनके पास प्रगतिशील व जनवादी जैसी कोई अवधारणा नहीं थी। यह अवधारणाएँ हम लोगों ने प्रतिपादित की है। इसका कोई औचत्यि नहीं है। कला जब मनुष्य के दु:ख, करूणा, संघर्ष, प्रेम, विकास पर केन्द्रित होती है, तब यह स्वाभावकि रूप से जनवादी या प्रगतिशील हो जाती है। अवधेश की चित्रकला में पूर्णता की कोई अवधारणा नहीं है। उनके लिए पूर्णता एक अनवरत खोज है।

अवधेश कला बाज़ार की शर्तों से प्रभावित होते भी हैं और नहीं भी। उनका मानना है कि बाज़ार से संघर्ष एक बड़ा संघर्ष है। बाज़ार वही चाहता है, जो बिक सके। बाज़ार को नया दर्शन नहीं, बल्कि नई डिज़ाइन की ज़रूरत है। वर्तमान में करोड़ों रूपयों का विश्व कला बाज़ार है। पूरा समाज अपने जीवन में कला के बिना नहीं रह पाता है। दैनिक जीवन के उपयोग की सभी वस्तुएं कलाकारों के आंशिक योगदान से निर्मित हैं। हम सभी चौबीस घंटे कला के दायरे में रहते हैं। आध्यात्मिक व भौतिक कला के संबंध में लगातार बातचीत संभव है।

उन्हें यह कहने में बिल्कुल संकोच नहीं है कि वैश्वीकरण का सर्वाधिक लाभ कला को मिला है। पूरा संसार हमारी जेब में आ गया है। पहले चित्रकारों को कला से संबंधित पुस्तकों को पढ़ने व चित्रों को देखने के लिए दिल्ली, मुंबई, कोलकाता जाना पड़ता था। वॉन गाग, पिकासो, डाली की डाक्यूमेंट्री या अन्य क्लासिक फिल्में देखने को मिली तो अद्भुत लगता था, जो यहाँ गाँव-कस्बों में संभव नहीं था। अब हम विश्व के हर चित्रकार के काम व हर गैलरी को देख सकते हैं। वैश्वीकरण के कारण सभी क्षेत्रों में ज्ञान अर्जित करने के नए रास्ते खुले हैं। अवधेश इसके साथ ही इस खतरे की ओर भी संकेत करते हैं कि क्या देखना है और क्या नहीं देखना है, इस ओर भी सतर्क रहना होगा। भविष्य में इससे अराजक स्थिति उत्पन्न हो सकती है और इससे संकट भी होगा।

स्मृतियों का बसेरा
भवानी संग्रहालय

अद्भुत चित्रकारी और मूर्तिकला का विश्व स्तरीय संग्रहालय है- औंध में अवस्थित श्री भवानी चित्र संग्रहालय व ग्रंथालय। महाराष्ट्र के सातारा शहर से महल 48 किमी दूरी पर नैसर्गिक सुरम्य वादियों की गोद में अवस्थित है। यह विश्व स्तरीय संरचना। मिनिएचर पेंटिंग्स और देश में बनी तथा विदेश से संग्रहित अद्वितीय मूर्तियाँ और ऐतिहासिक वस्तुएँ यहाँ मौजूद हैं जिन्हे देखकर न केवल सैलानी बल्कि अध्येता भी राजे भवान राव पंत प्रतिनिधि की चित्रकारी और साहित्यिक अभिरूचि और पारंगतता की मुक्त कंठ प्रशंसा किये बग़ैर नहीं रह सकते।

किशोर दिवसे

औंध के राजा स्वर्गीय भवान राव श्रीनिवासराव पंत प्रतिनिधि ने सन 1938 में इस संग्रहालय का निर्माण कराया। उनका जन्म 24 अक्टूबर 1868 को हुआ और निधन 13 अप्रैल 1951 को। वे बालासाहेब पंत प्रतिनिधि के नाम से लोकप्रिय रहे। राजा भवान राव की तूलिका से आजीवन सृजित चित्रकारी अद्भुत ही नहीं वरन अध्येताओं के शोध का भी विषय है। 15 वीं से 19 वीं सदी के दरम्यानी कार्यकाल में बनायी चित्रकला के विभिन्न ऐतिहासिक घरानों की पेंटिंग्स और मूर्तिकला के बेनज़ीर नमूने यहाँ चमत्कृत कर देते हैं। राजा साहब अद्भुत चित्रकार के साथ सम्मोहक कीर्तनकार भी रहे। उन्होंने 1935 में इंदौर में हुए मराठी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता की और पूना की सार्वजनिक सभा के अध्यक्ष भी रहे।

राजा भवान राव के सुपुत्र अप्पा साहेब बाला साहेब पंत 11 सितम्बर 1912 को जन्मे। औंध एक छोटी सी रियासत थी जो बरतानवी हुकूमत के अधीन रही। उन्होंने मुंबई के विश्व विद्यालय से बी.ए किया और ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से एम.ए. उपाधि ली। लन्दन से ही अध्ययन जारी रखकर लन्दन इन से बैरिस्टर बने और 1937 में भारत लौटे। उस वक्त भारत में आज़ादी का आंदोलन परवान चढ़ चुका था। श्रीमंत बालासाहेब पंत की मृत्यु के बाद अप्पा साहेब पंत ने औंध स्थित संग्रहालय महाराष्ट्र सरकार को सौंप दिया। 5 अक्टूबर 1912 को 80 वर्ष की आयु में अप्पा साहेब की मृत्यु हुई।

संग्रहालय में दाखिल होते ही इस दालान में राजा भवान राव उर्फ़ बाला साहेब का विशाल तैलचित्र है। इसके अलावा जर्मनी में योग प्रशिक्षण के चित्र साबित करते हैं कि बाबा रामदेव से बरसों पहले राजा साहब ने योग का प्रचार शुरू कर दिया था। प्रागि फिजिकल यूनिवर्सिटी इंग्लैण्ड के छात्रों को राजा भवन राव पंत ने योग का मार्गदर्शन किया था, इस अवसर का चित्र भी लगा हुआ है। राजा साहेब की कुंडली, हस्ताक्षर, बस्ट साइज मूर्ति, पैठणी और उनकी बनायी पेंटिंग्स हैं जिनमें जटायु वध, लंका दहन, रामपंचायतन और चित्रमय रामायण के 20-20 चित्र हैं। राजा साहब की 57 पेंटिंग्स गीत रामायण पर आधारित हैं।

कर्नाटक के चित्रकार बरमाप्पा ने चित्रकारी का प्रशिक्षण कहीं नहीं लिया। इस जन्मजात कलाकार की पेंटिंग्ज-भीम व ऐरावत, शिवतांडव, द्रौपदी वस्त्र हरण अद्भुत चित्रांकन हैं। कोट्यालकर औंध में बीस साल रहे। उनके पांच-पांच फुट ऊंचे चित्रों में त्रिपुरासुर वध, शिवराज्याभिषेक, शिव तांडव नृत्य की चित्रकारी में रंग संयोजन लाजवाब है, राजा साहेल रोज संस्कृत का एक श्लोक कहते और कोट्यालकर शब्दों को रंगाकृति में ढालते। अवाक कर

देने वाली मिनिएचर पेंटिग्स से दो दालान सुशोभित हैं। ये अभिजात भारतीय लघु शैली के अक्स हैं। इनमें प्रभावशाली आकृतियां, नर्म रंग, द्विआयामी इफेक्ट, तूलिकाघात की बाजीगरी, विविध विषय हैं। इन चित्रों में महाराष्ट्र, मुगल, राजस्थान, गढवाल, कांगडा और दक्खन शैली का समावेश है। मिनिएचर पेंटिंग्स की सबसे बड़ी खासियत है सोने के रंग का उपयोग।

भारतीय और बांग्ला चित्रकला दालानः किरातार्जुन की ऐतिहासिक कथा मिनिएचर पेंटिंग्ज के माध्यम से यहां जीवंत होती है। पंडित मालाराम ने बनाए अप्सरा, गंधर्वश्रृंगार, शंकर-अर्जुन युद्ध कथा शय्यागृह में कामक्रीडा के दृश्य अद्‌भुत हैं। राग, द्वेष, मद व निराशा के रंग बिम्ब पारदर्शी हैं। कलर्स कहीं भी लाउड न होने के बावजूद चित्रांकन सार्थक है। बांगला चित्रकला में दालान गुरूदेव रवींद्रनाथ टैगोर, भूपान वर्मा, जेमिनी राय और के.सी. साहू सौम्य जलरंग से प्रखर भावोन्मेष सर्जित करते हैं। जयपुरी शैली, कांगडा चित्र शैली, अगर जल्द समझ गए तो हटने का मन नही करेग। अष्टनायिकाएं, अभिसारिकाएं और गौरांगनाओं की बॉडी लेंग्वेज और फेशियल एक्सप्रेशंस उत्तेजित करते है।

औरंगज़ेब की कैद में छत्रपतिः छत्रपति शिवाजी महाराज से संबंधित चित्रों का एक स्वतंत्र दालान है। ए.एच. मुलर का बनाया चित्र देखकर रंगप्रेमी अवाक रह जाते हैं। पेंटिंग में शिवाजी महाराज की भिंची हुई मुट्ठी कलाकार के तूलिकाघात का चरम है। चित्र में संभाजी राजे, हीरोजी फ़रज़न्द, मदारी मेहतर की भाव भंगिमाएं चमत्कृत करती हैं। राज दरबार में सभी उपस्थितों के आयु वर्ग के अनुकूल भाव-भंगिमाएं दर्शाने में फनकार ने समूची साधना उड़ेल दी है।

राजा रवि वर्मा दालानः मलयाली महिला, सैरंध्री और दमयंती इन तीन मूल पेनिंटग्ज़ का यहाँ समावेश है। दीगर चित्रों की प्रतिकृतियां राजा भवान राव को रा.द. चितारी, डी.वी. पंडित ने 1928-32 के दरम्यान बनाकर दी। गंगा-शांतनु, पूतना वध, माँ और बच्चा, राधा-कृष्ण के चित्र चितारी ने बनाये। शांतनु-सत्यवती, विश्वामित्र-मेनका, सैरंध्री की पेंटिंग डीवी पंडित का कमाल है। द्रौपदी की असहायता का रंग दर्शन चित्रकार का करिश्मा है। पंजाब आर्ट स्कूल के मिनिएचर पेंटिंग्ज महाभारत के प्रसंग वर्णित हैं।

पाश्चात्य कला के दो दालानः जलरंग और तैलरंग दोनों चित्र यहां हैं। सालोमन, मिस टूथ, एन बिन और मोरेली की कलाकृतियां 'सो ब्यूटिफुल' श्रेणी में हैं। आकार विशाल हैं और किसी फ्रेम पर कु. सुतार लिखा हुआ है। टकटकी लगाने लायक पेंटिंग्स हैं- 'पेरिस में सत्ता' एस. कॉर्निल जिसमे कमाल का पैच वर्क है। 'वेनिस शहर' मेअर एल्डिन, 'जुआरियों का खेल' चित्रकार एफ मोरली अद्भुत हैं। खांटी जुआरियों के चेहरे पर हार, जीत, चालाकी, उहापोह आदि एक्सप्रेशंस.... सिंपली हैट्स ऑफ टू क्रिएटर आर्टिस्ट्स!

विविध वस्तु कला विभागः विभूतियाँ साने गुरूजी, माडगूलकर और शंकर राव खरात ने औंध में शिक्षा-दीक्षा ली थी। अत्यंत रोचक जानकारी यह कि फिल्म 'दो आँखें बारह हाथ' में जो ओपन जेल का कॉन्सेप्ट था वह भी राजा भवन राव की सोच है। काष्ठ शिल्पकार रामचंद्रगुडीवार ने अप्रतिम मूर्तियाँ बनाई हैं। चंदन पर रामायण और शिवाजी महाराज से संदर्भित 20-20 प्रसंग उकेरे गए हैं। महादेव पाथरकर की हस्तिदंत कलाकृति अप्रतिम है। साढे सात से.मी. की अंबारी में हाथी पर लटकाई सीढी मूर्तिकारों के कौशल की पराकाष्ठा है। बाबूराव पेंटर के पिता कृष्ण मिस्त्री का बनाया जहाज अचंभित करता है। लोहे से निर्मित्त नांगर (हल) विस्मित करता है। तिब्बती कलावस्तु दालान में तिब्बती थंका, चांदी के वर्क लगा पोचा, लकडी की कलावस्तुएं आदि रखी हैं।

कोर्ट यार्ड : सुबहानअल्लाह!....बेहद खूबसूरत! ग्रीक-इतालवी शिल्प देखकर ओठों से बेसाख्ता ये अशआर निकलते ही हैं। हेरी मूर की बनाई मूर्ति 'मदर एंड चाइल्ड' फनकार का यकीनन करिश्मा है। ऋतुओं को प्रतिबिम्बित करती छह मूर्तियां हैं- शरद, हेमंत, शिशिर, वसंत, ग्रीष्म और वर्षा बताते हैं। इन मूर्तियों के चेहरे राजा साहेब की छह बेटियों के हैं। अद्‌भुत मूर्तिकला का एक और पडाव है कुछ अन्य मूर्तियाँ। रेप ऑफ़ सबाइन, वीनस, एडम एंड ईव, संग्रहालय की शुरूआत में रखी बुद्ध मूर्ति काले और पीले पत्थर से बनाई गई है... ये मूर्तिकार... बिना प्रशिक्षण, कैसे अप्रतिम... कालजयी मूर्तियाँ तराश दी उन्होंने आखिर? शिल्पकार थे या जादूगर!

म्यूजियम बंद होने का वक्त ठीक पांच बजे। ग्रंथालय और स्ट्रॉग रूम देखना बाकी ग्रंथालय में मौजूद 15,000 दुर्लभ पुस्तकों में 300 हस्तलिखित हैं। राजा भवान राव पंत का समाधिस्थल भी संग्रहालय परिसर में है। स्ट्राँग रूम में बेशकीमती ख़ज़ाना है। हीरे-जवाहरात, पन्ने की मूर्तियां, सोने की मोहरें और भी ऐसी वस्तुएं जो सुरक्षा के नज़रिये आम दर्शकों के लिए हमेशा खुल नहीं सकती। लिहाज़ा इसे सिर्फ विशेष अनुमति से ही देखा जा सकता है। बहरहाल, आप अगर इतिहास पढ़ने के इच्छुक हैं, चित्रकला या मिनिएचर पेनिंटग्ज़ का वैश्विक अंदाज़ देखना और महसूस करना चाहते हैं तो आपके याद घर में हमेशा दर्ज़ रहेगा औंध का यह अनमोल ख़ज़ाना...!

समीक्षा

आस्था का आलोक

सुनीता सिंह

श्रुति कहती है कि मानव देह, अनंत की यात्रा पर निकली आत्माएँ हैं। तन, उनका साधन। एक अस्थाई कुटिया। जिसमें कुछ समय ठहर कर, वो साधना करती हैं और फिर बंजारों की बस्ती की तरह, अपनी बसाहट के निशान छोड़कर आगे बढ़ जाती हैं।... शरीर 'हम-उम्र' हो सकते हैं, एक ही कालखण्ड में वो अपने जन्म और मृत्यु को छू सकते हैं किन्तु 'हम-उम्र' शरीर में बसने वाली आत्माओं की उम्र अलग-अलग होती है। उनकी प्रकृति और जन्म-जन्मांतर की यात्रा में उनके संचित तप, अलग-अलग होते हैं।

हमारे ही शरीर की तरह सामान्य दिखने वाले शरीर में 'ऋषि आत्माएँ' भी उतरती हैं। हमारी सामान्य दृष्टि, उन्हें सामान्य मनुष्य की तरह देखती है। अपनी आध्यात्मिक यात्रा में, वो अपनी 'तन कुटी' छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं किन्तु उनका 'जीवन और उनकी वाणी' उनका सही परिचय बनकर इस दुनिया में ठहर जाते हैं। और फिर इस ठहराव के आसपास अनगिनत आस्थाएँ, सर झुकाती हैं, ज़िन्दगी की उलझनें अपने समाधान तलाशती हैं, जीवन के दु:ख अपने निवारण ढूँढते हैं। हमारे समय की ऐसी ही 'ऋषि-आत्मा' थे- पं. बालगोविन्द शांडिल्य। जिनकी स्मृतियों के दीप आज भी उनके स्वजनों, सहकर्मियों और अनगिनत भक्तों के मन में जल रहे हैं। एक सन्त हृदय, जो करूणा की धारा बन, अनगिनत लोगों के जीवन को छूता रहा। जिसका स्नेहिल स्पर्श आज भी उनके जीवनमें ठहरा हुआ है। इसी स्थाई भाव के साथ बालगोविन्दजी की उपस्थिति बनी रही। करूणा के इसी स्थाई भाव से मानव सेवा की कितनी ही धाराएँ फूटीं। भोपाल स्थित करूणा धाम आश्रम द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'अनंत कियो उपकार' के हर सफ़े पर इस दरिया को बहता देखा जा सकता है।

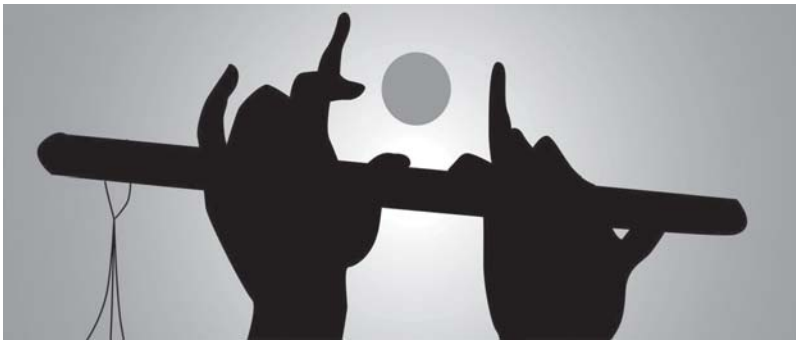

आज विज्ञान हमारे जीवन के हर पाल, हर क्षण हर घटना का, रेशा-रेखा विश्लेषण करने की क्षमता रखता है। जीवन में तकनीक का प्रवेश इतने गहरे तक है कि सामान्य मनुष्य की सोच भी कुछ वैज्ञानिक हुई है। ऐसे समय में पारलौकिक घटनाओं और चमत्कारों की अनुभूति और उन पर विश्वास, कुछ लोगों के मन में प्रश्न की तरह खड़ा हो, यह भी स्वाभाविक है। ऐसी आस्थाओं का आधार क्या है? यह प्रश्न अक्सर पूछा जाता है। तो उत्तर सिर्फ इतना है कि विज्ञान तर्क-वितर्क अर्थात मस्तिष्क का विषय है जबकि आस्था मन का विषय। किसी बात का मन में लग जाना या किसी बात से मन का लग जाना, ये समझाने का विषय हो ही नहीं सकता। इसे तर्क की कसौटी पर कसा नहीं जा सकता। क्योंकि विज्ञान के पास 'माइंड' है अर्थात 'मस्तिष्क', विज्ञान के पास 'हार्ट' है अर्थात 'दिल' भी लेकिन उसके पास 'मन' नहीं हैं और आस्था उसी 'मन' का विषय है। लेकिन 'आस्था' और 'अंधविश्वास' के बीच की रेखा को भी हम समझते चलें।

विज्ञान तर्क-वितर्क अर्थात मस्तिष्क का विषय है जबकि आस्था मन का विषय। किसी बात का मन में लग जाना या किसी बात से मन का लग जाना, ये समझाने का विषय हो ही नहीं सकता। इसे तर्क की कसौटी पर कसा नहीं जा सकता। क्योंकि विज्ञान के पास माइंड है अर्थात मस्तिष्क, विज्ञान के पास हार्ट है अर्थात दिल भी लेकिन उसके पास मन नहीं हैं और आस्था उसी मन का विषय है।

इस किताब में 'चमत्कार' की शक्ल में आए प्रसंग दरअसल एक अलग दुनिया का द्वार खोलते हैं। जिन्हें पढ़ते हुए महसूस होता है कि हमारे जैसे षरीर में ही विद्यमान ऋषि आत्माओं की क्षमताएँ अलग होती हैं। यह कोई चमत्कार नहीं बल्कि हमारे अब तक जाने हुए संसार, हमारी नज़र, हमारी सीमाओं से परे की उनकी उपस्थिति है। यह ठीक वैसा ही है, जैसे हमारे सामने कोई दीवार हो तो हम आगे के दृश्य को नहीं देख सकते। किन्तु हमारी सतह से उँचाई पर खड़ा व्यक्ति दीवार के उस पार भी देख सकता है क्योंकि उसकी नज़र के विस्तार के सामने दीवार नहीं है।

ऋषि आत्माएँ, अपनी इच्छा शक्ति से, समय के पूरे विस्तार में वियार सकती हैं। वो भूतकाल में प्रवेश कर सकती हैं, वो भविष्य के किवाड़ खोल सकती हैं। शरीर, काल या कोई भी भौतिक सीमा उन्हें बाँध नहीं सकते किंतु महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ये 'ऋषि आत्माएँ' ईश्वर की वह संतान होती हैं जिन्हें प्रसिद्ध गुजराती संत कवि 'नरसी मेहता' ने 'वैष्णव जन' कहा। पराई पीर जिनसे सही नहीं जाती। दूसरों का दु:ख देखते ही उनके भीतर विकल करूणा बहती है और उनकी अर्जित शक्तियाँ स्वत: लोक मंगल, लोक कल्याण की दिशा में काम करने लगती हैं, जिन्हें अपनी साधारण समझ और दृष्टि से देखकर हम 'चमत्कार' कह बैठते हैं। जबकि वो करूणा से उपजी 'ऋषि इच्छा' का स्वाभाविक, निष्प्रयास 'साकार' होता है। उसी पवित्र इच्छा से उपजे अनंत उपकार के शब्द चित्र इस किताब में दर्ज हैं।

यह एक ऐसा व्यवस्थित समावेशी शोध और अध्ययन है जिसमें 'माँडणा' के रास्ते मालवा के जीवन और संस्कृति को आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक धरातल पर एक साथ समझा जा सकता है। लालित्य और सौन्दर्यबोध की परंपरा कैसे लोक जीवन के सरोकारों में गहरे तक व्याप्त है, यह किताब इस प्रश्नाकुलता या जिज्ञासा के कपाट खोलती है। 'माँडणा' के मूल मन्तव्य के आसपास फैले रंगों और रेखाओं की गतिपरक सुन्दरता में प्रतीक तथा संकेत बहुत व्यापक आशयों में अपने होने को सुप्रमाणित करते हैं।

माँडणा
फ़लक पर विराट के रंग

अनीता सक्सेना

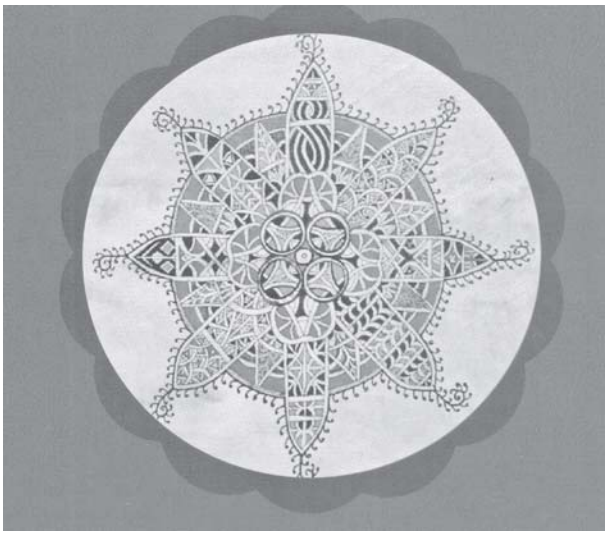

कुछ माह पूर्व भोपाल निवासी लेखिका अनिता सक्सेना से मुलाकात के दौरान उनकी किताब 'माँडणा मालवा की एक लोक कला' की जानकारी मिली तो लगा मानों खज़ाना हाथ लगा। किताब के रूप में मुझे वर्षों के गहन अध्ययन और अद्भुत चित्रों का संकलन भी मिला है।

भारत की संस्कृति अपनी लोक कलाओं से समृद्ध है। लोककलाएँ अपनी विविधताओं के बावजूद कई प्रान्तों में समानता भी रखती है। माँडणा भी एक ऐसा ही लोककला है। पुरातन सभ्यताओं से यह सौन्दर्य और अभिव्यक्ति का ही माध्यम नहीं रहीं हैं बल्कि एक भरी-पूरी परम्परा का निर्वहन भी करती रही है।

चित्रकला चौसठ कलाओं में से एक है और माँडणा चित्र प्राचीन सभ्यता-संस्कृति की समृद्धि के प्रतीक हैं। संपूर्ण भारतवर्ष में आंचलिक लोककलाएँ फलती-फूलती रही हैं उनमें से राजस्थान और मालवा के माँडणा का अपना अलग स्थान है। अनिता ने जिस कड़ी मेहनत से इस दिशा में कार्य आरंभ किया था वो जानना बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि वो स्वयं मालवा की नहीं है। शादी के बाद वे मालवा के राजगढ़ में परिवार में अपनी माताजी द्वारा बनाये माँडणा से प्रभावित हुई। चूंकि वो स्वयं चित्रकला में अभिरुचि रखती थी, लिहाज़ा उन्होंने इस कला के संरक्षण का पहला कदम उठाया और उसी दिन से इस परम्परा को सहेजने का काम आरम्भ किया। घर-परिवार के साथ परिचित-अपरिचित महिलाओं से मिलकर गाँव-गाँव से माँडणा के दुर्लभ चित्रों अनमोल संरचनाओं को एकत्रित किया। महिलाओं द्वारा बनाई जाने वाली इस कला को एक महिला द्वारा ही संरक्षित करने का प्रयास अपनी रुचि, गहन आस्था और उद्देश्य के साथ पूरा करना अपने आप में एक उदाहरण है।

इन तेरह अध्यायों में मालवा की भौगोलिक पृष्ठभूमि से लेकर संस्कृति, साहित्य, दर्शन, लोक परंपरा और भाषा-भूषा तक एक पूरे जनपदीय विहंगम तथा माँडणा कला के साथ जुड़े व्यापक संदर्भों को सिलसिलेवार प्रस्तुत किया गया है। दरअसल यह एक ऐसा व्यवस्थित समावेशी शोध और अध्ययन है जिसमें 'माँडणा' के रास्ते मालवा के जीवन और संस्कृति को आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक धरातल पर एक साथ समझा जा सकता है। लालित्य और सौन्दर्यबोध की परंपरा कैसे लोक जीवन के सरोकारों में गहरे तक व्याप्त है, यह किताब इस प्रश्नाकुलता या जिज्ञासा के कपाट खोलती है। 'माँडणा' के मूल मन्तव्य के आसपास फैले रंगों और रेखाओं की गतिपरक सुन्दरता में प्रतीक तथा संकेत बहुत व्यापक आशयों में अपने होने को सुप्रमाणित करते हैं। अनिता जी बताती है कि यह कला अध्यात्म, लोक कथाओं, किंवदंतियों के साथ समाज में दिनचर्या के पर्व अनुष्ठानों, संस्कार से भी जुड़ी है। इसमें प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से रेखाओं बिन्दुओं त्रिभुज चतुर्भुज वृत कोण आयत के संकेतों का प्राकृतिक रंगों के साथ संयोजन किया जाता है। जो कि मानव जीवन को प्रकृति से जोड़ता है और उनकी निर्भरता एक दूसरे पर दर्शाता है। इतना ही नहीं इस कला में वनस्पति के फूल, फल, बेलबूटे, पशु, पक्षी, जानवरों को धरोहर माना गया है। शंख, नारियल, स्वास्तिक, त्रिशूल आदि आस्था और विश्वास के पर्याय होते है तो नक्षत्र, सूर्य-चन्द्रमा जीवन की शाश्वतता के प्रतीक होते है।

माँडणा में प्राय: दो प्रमुख रंगों लाल गेरू और सफेद खड़िया-मिट्टी का एक दूसरे के विपरीत उपयोग किया जाता है। गोबर और पत्तियों से हरा रंग, नारियल की जटाओं को जलाकर काला और चन्दन हल्दी से पीला रंग बनाया जाता है। कुछ रंग फूलों से प्राप्त किये जाते है। हिन्दु परम्पराओं, पौराणिक मान्यताओं, पंचांग की धाराओं सूर्य और चन्द्रमा एवं नक्षत्र पर आधारित कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष पर बनाये जाने वाले विभिन्न माँडणा की जानकारी दी गई है। वर्ष के बारह माह में ऋतु परिवर्तन और तीज त्यौहार की विविधता लिए माँडणा की विशेषताओं को बताया है। यह किताब संपूर्ण ब्रह्मांड से जोड़ने वाली कला का अद्वितीय सिंहावलोकन है।

* सृजन के आसपास *

नए सांस्कृतिक अभ्युदय की मिसाल होंगे वनमाली सृजन केन्द्र

एक लेखक का कार्य एक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में भी होना चाहिए। लेखक आखिर एक सामाजिक उद्यमी ही होता है। उसकी सक्रियता से ही रचनात्मक कार्य संभव है। आधुनिक टेक्नालॉजी ने हमारी संवेदना और एकाग्रता को बुरी तरह से प्रभावित किया है। यहाँ संपर्क तो है, मन से मन का संवाद नहीं है। संक्रमण के इस दौर में साहित्य, कला और संस्कृति से जुड़े एक बड़े रचनात्मक अभियान की दरकार है। वनमाली सृजन केन्द्र एक नए सांस्कृतिक अभ्युदय की मिसाल बनेंगे।

रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व विद्यालय के कुलाधिपति, शिक्षाविद्, संस्कृतिकर्मी और साहित्यकार संतोष चौबे ने वनमाली सृजन केन्द्रों के राष्ट्रीय सम्मेलन के उद्घाटन सत्र को संबोधित करते हुए यह आह्वान किया। भोपाल के टैगोर वि.वि. में संपन्न हुए इस समागम में उन्होंने आगे कहा- मैं कुहासा की थ्योरी के खिलाफ हूँ। स्थितियों को जटिल हमने ही बनाया है। वास्तव में हमें अपनी आँख, नाक, कान, खोलकर रखने चाहिए। हम पिछले 30 वर्षों से जो करते आ रहे हैं, उसे देखकर यह कहा जा सकता है कि जो करना चाहते हैं, उसे कर सकते हैं। आपने अपनी आँखें इस कदर बंद कर ली हैं कि आप अपने आसपास की चीज़ों को ठीक से देख नहीं रहे हैं। इसके लिए श्री चौबे ने 'स्माल अ ब्यूटिफुल थिंग्स' की चर्चा की। उन्होंने कहा कि छोटी चीज़ें बहुत खूबसूरत होती हैं। छोटे प्रयत्न बहुत स्वालम्बी भी होते हैं और खूबसूरत भी। शारदा सभागार में आयोजित इस विशाल वैचारिक समागम में म.प्र. सहित दस राज्यों के लगभग डेढ़ सौ प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस अवसर पर भारतीय ज्ञान पीठ के पूर्व निदेशक और कवि लीलाधर मंडलोई, कथाकार सतीश जायसवाल, मुकेश वर्मा, शशांक और टैगोर कला-संस्कृति केन्द्र के निदेशक-कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने भी सृजन केन्द्रों की परिकल्पना, विस्तार और नई रचनात्मक सक्रियता पर अपने वक्तव्य दिये। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में समान रूप से सक्रिय वनमाली सृजन पीठ के संयोजन में सक्रिय ये नवगठित केन्द्र देश में नया सृजनात्मक वातावरण तैयार करने का काम करेंगे।

टैगोर विश्वविद्यालय में रचनाधर्मियों ने किया मंथन

चार सत्रों में सम्पन्न इस सम्मेलन में चार समूह चर्चाओं के दौरान आए सुझावों का संदर्भ लेते हुए भावी सक्रियता की रूप-रेखा तय की गई। संतोष चौबे ने कहा कि हमें पारंपरिक उपकरणों का इस्तेमाल करते हुए आधुनिक चुनौतियों का समाधान खोजना होगा। समूह चर्चाओं का ब्योरा संगीता पाठक, राग तेलंग, संजय सिंह राठौर और मोहन सगोरिया ने प्रस्तुत किया। सृजन पीठ की भोपाल इकाई के अध्यक्ष मुकेश वर्मा ने वनमाली सृजन पीठ की वैचारिकता को सामने रखा। उन्होंने कहा कि सृजन पीठ धीरे-धीरे एक आंदोलन का रूप ग्रहण कर रही है। कोई व्यक्ति किसी भी वैचारिकता से आए हों, उनका इसमें स्वागत है। हम किसी भी तरह की वैचारिकता के पैरोकार नहीं है। यह संगठन अधिजात्य वर्ग के लिए नहीं है। हम अपने विचारों का आदान-प्रदान करते रहेंगे। इसमें हम सबको जोड़ने वाली बात महत्वपूर्ण है।

देश के विभिन्न राज्यों, शहरों, क़स्बों से आए सृजन केन्द्रों के प्रतिनिधि

रचना पाठ के आत्मीय क्षण

सृजन केन्द्रों की कार्य योजना से अवगत कराते संतोष चौबे... साथ में कथाकार शशांक

आमंत्रित रचनाकारों के साथ वनमाली सृजन पीठ और टैगोर विश्वविद्यालय परिवार

युवाओं की आपसदारी का मंच होंगे सृजन केन्द्र

इस अवसर पर प्रतिनिधियों को संबोधित करते हुए लीलाधर मंडलोई ने कहा कि वनमाली सृजन केन्द्रों के माध्यम से आप लोग सृजनात्मक आंदोलन के लिए तैयार हुए हैं। आपके कंधों पर बड़ी जिम्मेदारी है देश के युवा वर्ग को साहित्य कला संस्कृति से आपसदारी कराने की, जिन्हें कोई नहीं जानता हमें उन्हें पहचान देना है। कला, साहित्य संस्कृति में भविष्य नहीं है हमें इस मिथक को तोड़ना है। वनमाली सृजन केन्द्र कैरियर काउंसिल करने वाले सृजन केन्द्रों के रूप में भी कार्य करेंगे।

राष्ट्रीय सम्मेलन को संबोधित करते हुए वरिष्ठ कथाकार सतीष जायसवाल ने कहा कि वनमाली सृजन केन्द्रों का विस्तारित स्वरूप जन आंदोलन का रूप लेता जा रहा है। सृजन केन्द्रों के माध्यम से स्थानीय लोक कलाओं के साथ-साथ हिन्दी भाषा एवं बोलियों की समृद्धता एवं संरक्षण का कार्य भी किया जाएगा। वरिष्ठ कथाकार मुकेश वर्मा ने कहा कि वनमाली सृजन केन्द्रों द्वारा बनाए जा रहे सांस्कृतिक वातावरण लोकतंत्र की पाठशाला के रूप में विकसित हो रहे हैं। समावेशी स्वरूप में साहित्य, कला एवं संस्कृति के लिए जोड़ने वाली परम्परा को आत्मसात करते हुए सृजन केन्द्र, अपनी विकास यात्रा पर अनवरत अग्रसर हैं। यह राष्ट्रीय सम्मेलन इसका बड़ा उदाहरण है। वरिष्ठ कथाकार शशांक ने कहा कि नई प्रतिभाओं को उभारने और उन्हें प्रशिक्षित करने में सृजन केन्द्रों की महत्वपूर्ण भूमिका होगी।

दोपहर के सत्र में वनमाली सृजन केन्द्रों के अध्यक्ष और कार्यकर्ताओं ने अपनी-अपनी बैठकें भी की, जिसमें केन्द्रों के सदस्यों ने हिस्सा लिया। इसमें भोपाल इकाई के साथ ही बिहार, झारखंड, महाराष्ट्र, रीवा, जबलपुर, छत्तीसगढ़, ग्वालियर, सागर, उत्तरप्रदेश, झारखंड, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, मालवा और निमाड़ के प्रतिनिधियों ने अपने विचार रखें।

इसके उपरांत विभिन्न केन्द्रों में हुए विचार-संयोजन की रिपोर्ट पेश की गई। इस रिपोर्ट के माध्यम से वनमाली सृजन केन्द्रों की भावी नीतियों और भविष्य की योजनाओं को प्रस्तुत किया गया।

गीतों से गमक उठा शारदा सभागार

फागुनी शाम के वासंती अहसासों के बीच टैगोर विश्व विद्यालय का शारदा सभागार गीतों से गमक उठा। वरिष्ठ गीतकार शिवकुमार अर्चन के संयोजन में महेन्द्र गगन, महेश कटारे 'सुगम', ममता वाजपेयी, जंगबहादुर श्रीवास्तव, ओम यादव, मनोज जैन 'मधुर' ने अपनी प्रतिनिधि रचनाओं का पाठ किया। गोष्ठी की अध्यक्षता वरिष्ठ गीतकार जंगबहादुर श्रीवास्तव ने की। संचालन कवि बलराम गुमास्ता ने किया। सृजन केन्द्रों के प्रतिनिधियों के साथ ही टैगोर विश्व विद्यालय के अध्यापकों और छात्र-छात्राओं ने राग-रस से सराबोर गीतों का भरपूर आनंद लिया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व विद्यालय में भावी कार्यक्रमों की विस्तृत रूपरेखा रखते हुए कुलाधिपति संतोष चौबे ने कहा कि सन् 2019 में ही रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र की ओर से एक कला तथा साहित्य उत्सव भोपाल स्थित इसी विश्व विद्यालय के परिसर में होगा। श्री चौबे ने जानकारी दी और कहा कि साहित्य, कला, रंगमंच, लोक संगीत के साथ-साथ बच्चों के लिए भी कार्यक्रम होंगे।

कुलाधिपति संतोष चौबे ने सृजन पीठ केन्द्रों के हर प्रतिनिधि को 5000 रूपये की पुस्तकें भेंट कीं। उन्होंने उम्मीद जताते हुए कहा कि पुस्तक संस्कृति से एक नया रिश्ता जोड़ने के साथ ही सृजन केन्द्र रचनात्मक भाईचारे की मिसाल भी बनेंगे।अपनी प्रतिक्रियाओं में आमंत्रित प्रतिनिधियों ने आश्वस्त किया कि एक लंबी रिक्तता के बाद वनमाली सृजन पीठ का यह अभियान अपने समय की अग्रज और नौनिहाल पीढ़ी के बीच एक सेतु का काम करेगी। आयोजन स्थल पर ही कई नई इकाईयों का गठन हो गया।

साहित्य के बिना रंगमंच की जुबां ख़ामोश

कला विदुषी उषा गांगुली का 'रंग संवाद'

साहित्य के बिना रंगमंच की कल्पना ही अधूरी है। शैली और प्रयोग के दायरे चाहे कितने भी बनते, बदलते और सँवरते रहे हों, इंसानी दुनिया का वजूद, उसके सुख-दुख, स्मृतियाँ, संघर्ष और जय-पराजय की कहानियाँ हमेशा रंगमंच से टकराती रहेंगी। रंगमंच को साहित्य की और साहित्य को रंगमंच की ज़रूरत सदा बनी रहेगी। दोनों एक-दूसरे की परस्परता के बिना अधूरे रहेंगे।

प्रख्यात रंगकर्मी और कला विदुषी उषा गांगुली अपने इस विचार के साथ राजधानी के कला प्रेमियों से मुखातिब थीं। रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व कला एवम् संस्कृति केन्द्र द्वारा आयोजित उनका यह विषेष 'रंग संवाद' व्याख्यान, 'साहित्य और रंगमंच' विषय पर केन्द्रित था। म.प्र. नाट्य विद्यालय के सभागार में सम्पन्न इस वैचारिक कार्यक्रम में टैगोर विश्वविद्यालय के कुलाधिपति-कथाकार संतोष चौबे, नाट्य विद्यालय के निदेशक आलोक चटर्जी और टैगोर कला केन्द्र के निदेशक-कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने भी शिरकत की। इस अवसर पर नाट्य विद्यालय के विद्यार्थियों ने उषाजी से उनकी रंग यात्रा और नाटक से जुड़े प्रश्न भी किये।

उषाजी ने कहा कि जीवन और साहित्य को गहरे और व्यापक संदर्भों में समझे बिना रंगमंच की कल्पना बेमानी है। उन्होंने अपने तजुर्बों के हवाले से कहा कि मेरा थियेटर करने का परिवेश और तरीका अलग है, जो बहुत अनुशासित है। फिल्मों का परिवेश और तरीका बिल्कुल अलग है। शायद मेरा टीचर या मेरा विवेक उसमें फिट नहीं बैठता। उससे भी बड़ी बात है कि थियेटर में मेरी तरह कोई भी महिला रचनात्मक स्वतंत्रता चाहती है। साहित्य और रंगमंच पर सोचते हुए मैंने यही किया और जिया। अपने अनुसार हम कोई भी स्क्रिप्ट कर सकते हैं। न कैमरामेन, न प्रोड्यूसर, न डायरेक्टर, मुझ पर कोई हावी नहीं होता। यह जो स्वतंत्रता है, वो नाटक में

मुझे मिलती है, जो और कहीं नहीं मिलेगी।उषाजी ने कहा कि मेरे लिए निर्देशक की जगह, अभिनेत्री की जगह, जो नाटक मैं लिखती हूँ उसकी जगह या टेक्निकल मंच-सज्जा, कॉस्ट्यूम्स की जगह- सब आपस में गुँथे हुए हैं। क्योंकि मैं थियेटर को न डायरेक्टर का मानती हूँ, न एक्टर का। जब हमने थियेटर शुरू किया था, उस वक्त देश में सब धाकड़-धाकड़ एक्टर ही थे, एक्टर्स के नाम से थियेटर चलते थे। उसके बाद वक्त बदला, डायरेक्टर्स के नाम से थियेटर चलने लगे। मैं इस बँटवारे को नहीं मानती। मुझे लगता है कि थियेटर मिला-जुला है, थियेटर टोटली एक कम्यून है।

रंगमंच के लिए अपने साहित्यिक योगदान की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि मैंने संदीप राज के 'टारगेट' का अनुवाद किया था। मणिरत्नम की 'गाथा' उनके साथ करने के बाद, रवीन्द्रनाथ की तेरह कहानियों का मैंने स्क्रिप्ट किया था। मैंने भूपेन हजारिका के साथ काम किया था। मैंने जो काम किया, अपने घर बैठकर किया। मैंने कहा, मैं कभी शूटिंग में नहीं जाऊँगी। आप मुझे लिखने के लिए दे जाइए, क्या लिखना है बता जाइए और घर से ले जाइए। अपर्णा सेन एक फिल्म बना रही हैं। कुछ दिन पहले उन्होंने कहा कि- 'तुम करो। ये तुम्हारे सिवा कोई कर नहीं सकता।' तीस वर्ष में मेरी पहली फिल्म गौतम घोष की 'पार' थी। शबाना आज़मी के साथ भी काम किया था।

गुमास्ता का कविता संग्रह 'कवि कपूत' लोकार्पित

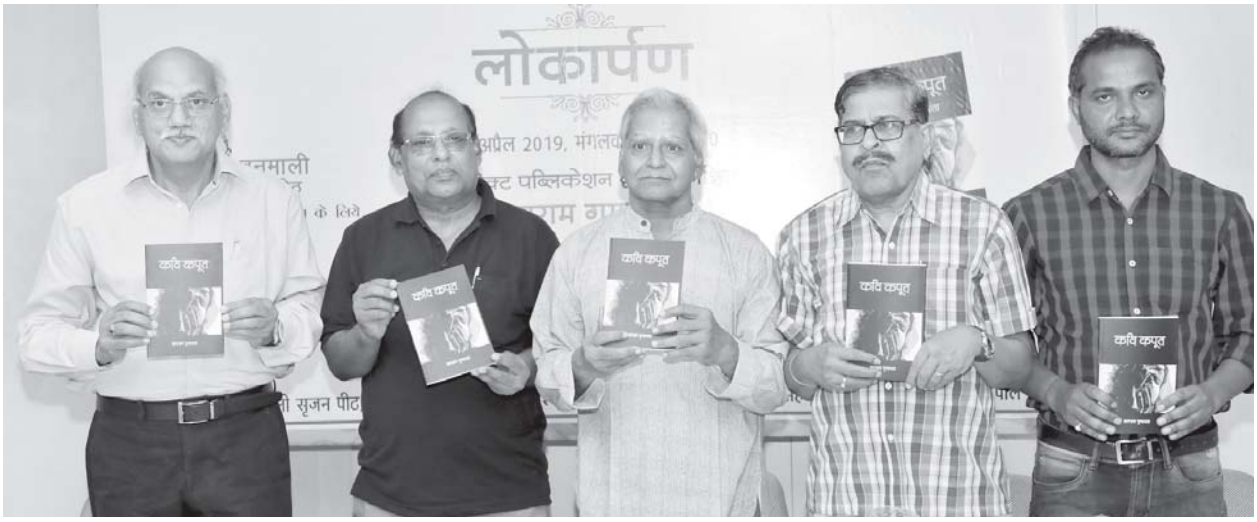

बलराम गुमास्ता अनुभव और विचार के बीच एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया प्रारंभ करते हुए कविता बुनते हैं और अचानक कल्पना की उड़ान भरते हुये कविता को नई ऊंचाई तक पहुंचा देते हैं। बलराम की कविता किसी बड़ी सामान्य सी दिखने वाली ज़मीनी हकीक़त से शुरू हो सकती है। इस जमीनी यथार्थ से वे विचारों की एक श्रृंखला में प्रवेश करते हैं जो कविता का धरातल बदल देता है और वहां से एक सपनीली कल्पना में छलांग लगाते हैं जो कविता को एक नई ऊंचाई प्रदान कर देता है।

प्रख्यात कवि, कथाकार एवं रबिन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय के कुलाधिपति संतोष चौबे ने यह बात समकालीन हिन्दी कविता के वरिष्ठ कवि बलराम गुमास्ता के ताज़ा कविता संग्रह 'कवि कपूत' का लोकार्पण करते हुए कही।

वनमाली सृजनपीठ, भोपाल द्वारा स्वराज भवन में आयोजित लोकार्पण समारोह के मुख्य अतिथि आलोचक ओम भारती ने कहा कि बलराम गुमास्ता की कविताओं में चीज़ों को साफ साफ देख पाने और कहने की हिम्मत पूरी शिद्दत के साथ नज़र आती है। युवा आलोचक डॉ. आनंद कुमार सिंह ने कहा कि बलराम गुमास्ता की कविताएं अपना ऐसा अन्तर्लोक रचती हैं जिसमें प्रच्छन्न जगमगाहट है और मुखर छायांकन भी। उनमें वैश्विक जीवन की पुकार है जो किसी संकीर्ण मतवाद में अँटना नहीं चाहती। बलराम गुमास्ता की कविता इक्कीसवीं शताब्दी की जरूरी कविता है। युवा आलोचक अरुणेश शुक्ल ने कहा कि बलराम गुमास्ता की कविताएं विचारधारा नहीं बल्कि मानवीय मूल्यों की कविताएं हैं। वे सच बोलती हैं। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सत्ता संघर्ष को कैसे निर्मित किया जाता है इस सच को बलराम अपनी कविताओं के माध्यम से सबके सामने लाते हैं।

कविता संग्रह से बलराम गुमास्ता ने अपनी चुनिन्दा रचनाओं- जन्मना, हे राजन, कि दर्पण झूठ ही बोले, अपना आधार खोजता हूं एवं कवि कपूत का रचनात्मक पाठ किया। बलराम गुमास्ता ने कवि कपूत कविता को कुछ यूं बयां किया- ''मैंने प्रयत्नों को सार कहा/विफलताओं को धर्म/ अज्ञानता को प्रार्थना की तरह गाया''।

उल्लेखनीय है कि बलराम गुमास्ता के इस ताज़ा कविता संग्रह 'कवि कपूत' का प्रकाशन आइसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल द्वारा किया गया है। कार्यक्रम का संचालन वरिष्ठ कवि राग तेलंग ने किया। वनमाली सृजनपीठ के अध्यक्ष मुकेश वर्मा द्वारा आभार प्रकट किया गया।

बिलासपुर (छत्तीसगढ़) में वनमाली सृजन पीठ का नया केन्द्र

यह विधाओं के बीच संवाद का समय है

साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय वनमाली सृजन पीठ के बिलासपुर केंद्र का शुभारंभ पिछले दिनों एक गरिमामय समारोह में हुआ। इस अवसर पर साहित्यकार संस्कृतिकर्मी और डॉ.सी.वी. रामन विवि के कुलाधिपति संतोष चौबे ने अपने पिता 'वनमाली' की स्मृतियों को साझा करते हुए कहा कि उनकी बिलासपुर में बहुत सी यादें हैं। वनमाली जी के अचानक निधन के बाद मैंने तय किया कि उनकी फिर से खोज की जाए। सृजन पीठ इसी सिलसिले को साहित्य और कला के माध्यम से आगे बढ़ते देखने का अभियान है। सृजन पीठ के एक हजार केंद्र स्थापित किए जाएंगे, जबकि बिलासपुर, खंडवा, भोपाल में कुल 100 से अधिक इकाइयां सुनिश्चित हो चुकी हैं।

बिलासपुर इकाई के अध्यक्ष वरिष्ठ साहित्यकार सतीश जायसवाल ने इस अभियान को व्यापक बनाने का भरोसा जताया। सृजन पीठ की ओर से विनय उपाध्याय ने लगभग तीन दशकों से जारी संस्थागत गतिविधियों और उपलब्धियों से अवगत कराते हुए नए सृजन केन्द्रों को एक महत्वाकांक्षी कदम बताया। इस अवसर पर वरिष्ठ आलोचक जयप्रकाश सहित सी वी रामन विश्वविद्यालय के कुलपति आर.पी. दुबे, सम कुलपति पी.के.नायक, कुलसचिव गौरव शुक्ला, दूरवर्ती शिक्षा के निर्देशक अरविंद तिवारी, आईसेक्ट ग्रुप के निदेशक नितिन वत्स, वनमाली पीठ खंडवा के अध्यक्ष शरद जैन सहित बड़ी संख्या में साहित्य प्रेमी उपस्थित थे।

कार्यक्रम के दूसरे चरण में मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के रचनाकारों ने कविता पाठ किया, साथ ही आमंत्रित अतिथियों ने सांस्कृतिक कला पत्रिका 'रंग संवाद' के नए अंक का विमोचन किया। प्रसिद्ध गीतकार शिव कुमार अर्चन ने 'कल भी था और 'आज भी है' तथा 'मैं मर जाऊंगा' जैसे भावप्रवण गीत सुनाकर गोष्ठी को करूणा और श्रृंगार का स्पर्श प्रदान किया। कवि महेंद्र गगन ने 'इरादा' और 'सरेआम' कविताएं सुनाकर ख़ासी वाहवाही बटोरी। विनय उपाध्याय ने 'दिसंबर की रात' और 'हस्ताक्षर' शीर्षक रचनाओं के जरिए सुकोमल भाव का इजहार किया। कवि विजय सिंह ने 'तिरया जंगल' और 'गोरा' सुनाकर छत्तीसगढ़ के आदिम जीवन की गंध बिखेरी। कवि विजय पंजवानी ने 'वह मिट्टी का घर था' शीर्षक पर कविताएं पढ़ी। मंजूषा मन ने स्त्रियों की स्थिति का सहज चित्रण किया। कवि वीरेंद्र धीर ने दो कविताओं का पाठ किया जिसमें 'एकाकी एकांत' और 'जान पहचान' नाम की रचनाएँ शामिल थीं। इस अवसर पर रमेश शर्मा, वीरेंद्र श्रीवास्तव, कामेश्वर पाण्डेय, गेंदलाल सहित मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ के अलावा उत्तर प्रदेश, बिहार और राजस्थान के बड़ी संख्या में कवि-साहित्यकार और पत्रकार शामिल हुए। गोष्ठी का संचालन अनामिका चक्रवर्ती ने किया।

कवि महेन्द्र गगन, आलोचक जयप्रकाश

पुस्तक संस्कृति की वापसी का समय : संतोष चौबे ने मौजूदा परिदृश्य पर व्यापक दृष्टि डालते हुए कहा कि आज पुस्तक संस्कृति की वापसी का समय है, क्योंकि बीते 30 सालों में बहुत बदलाव आए हैं कहानी, उपन्यास कविताओं में बहुत से बदलाव देखे जा रहे हैं। आज का यह समय विधाओं के बीच संवाद का समय है और हम भावी पीढ़ी को पुस्तक संस्कृति से जोड़कर इसी संवाद को अधिक सघन और सार्थक करना चाहते है। उन्होंने विश्वास जताया कि पुस्तक संस्कृति वापस जरूर आएगी। साहित्य जगत में एक अवसाद की स्थिति नज़र आती है जो कि नहीं होना चाहिए।

सृजन पीठ में स्थानीयता का भी महत्व : वनमाली सृजन पीठ बिलासपुर के नवनियुक्त अध्यक्ष साहित्यकार सतीश जायसवाल ने कहा कि पूरे छत्तीसगढ़ में वनमाली सृजनपीठ की इकाइयों का गठन किया है और यह पीठ कला साहित्य के साथ वहां की स्थानीयता के अनुसार भी कार्य करेगा। उन्होंने वनमाली पीठ की भावी योजनाओं और कार्यों की जानकारी दी।

हिंदी की शोध पत्रिका के प्रकाशन का संकल्प : डॉ. सी वी रामन विश्वविद्यालय के कुलपति प्रोफ़ेसर आर. पी. दुबे ने हर्ष व्यक्त करते हुए कहा कि विश्वविद्यालय वनमाली सृजन पीठ के ज़रिये इस ऐतिहासिक पल का गवाह बन रहा है। वि.वि. हिंदी के लिए शोध पत्र-पत्रिका का प्रकाशन करेगा।

सांस्कृतिक विमर्श की महत्वपूर्ण पत्रिका है रंग संवाद : टैगोर विश्व कला केन्द्र और वनमाली सृजन पीठ की बहुप्रतिष्ठित सांस्कृतिक पत्रिका 'रंग संवाद' के नए अंक को जारी करते हुए वरिष्ठ आलोचक जयप्रकाश ने कहा कि हिन्दी में सांस्कृतिक विमर्श को लेकर यह पत्रिका महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रही है। लोक और शास्त्र से लेकर अनेक आधुनिक कला रूपों पर सृजन संवाद की यह नयी पहल है।

वनमाली सृजन पीठ, बिलासपुर के शुभारंभ अवसर पर उपस्थित रचनाकार

निमाड़ के लोक मनीषी दुबे को प्रणति

वनमाली सृजन केन्द्र बड़वाह

'वनमाली' सृजन पीठ-खण्डवा के 'सृजन केन्द्र बड़वाह' के अंतर्गत महाराष्ट्र समाज धर्मशाला में 'प्रभाकर पुण्य स्मरण' कार्यक्रम में 'निमाड़ की माटी के गायक स्व प्रभाकर दुबे' को अंतर्मन से याद किया गया। तेरह मार्च को आयोजित इस कार्यक्रम का आरम्भ स्व दुबे के चित्र पर माल्यार्पण से हुआ। मुख्य अतिथि वरिष्ठ रंगकर्मी एवं खण्डवा पीठ के अध्यक्ष शरद जैन ने सृजन पीठ की स्थापना का आशय बताते हुए कहा कि हमें नई प्रतिभाओं को संस्कृति की विभिन्न धाराओं से जोड़ना है। पीठ द्वारा बडवाह केन्द्र को 5 हजार मूल्य का साहित्य भी भेंट किया है। विशेष अतिथि कहानीकार गोविंद नारायण शर्मा ने कहा कि हम नई पीढ़ी को शब्द के संस्कारों से पुनः जोड़ना चाहते हैं, इस हेतु पीठ द्वारा 12 साहित्यिक पत्रिकाएं केंद्र पर आएगी जिससे पाठकों का एक नया संवर्ग सामने आएगा। सुपरिचित कवि शैलेन्द्र शरण ने अपनी कविताओं और ग़ज़लों का पाठ कर वाह-वाही बटोरी।

अध्यक्षता कर रहे संगीत गुरु एवम प्रभाकर जी दुबे की मंडली के साथी पं भवानीशंकर व्यास ने विभिन्न संस्मरणों के साथ-साथ उनकी रचनाओं पर भी प्रकाश डाला। कवि रविन्द्र दुबे रवि ने ''खाण'' ''दौड़ घर'' ''खींचों काटे बाज़ार'' एवम शिशिर उपाध्याय ने 'भारत की सेना का सुरमा' का सस्वर पाठ किया। अतिथियों का स्वागत सृजन केंद्र के अध्यक्ष परमजीतसिंह राजपाल 'सीटू भैया' ने किया। सचिव बाबूलाल अग्रवाल, प्रवीण दुबे, कपिल तिवारी, गड़बड़ मेकल दुबे एवम गावसिंधे वकील साहब ने अतिथियों को स्व. प्रभाकर दुबे की पुस्तकों को स्मृति के रूप में भेंट किया। कार्यक्रम का विशेष आकर्षण 'नाक में नथ' एवम 'गौर सहेली छूट, छूटी जाय', पर लोक नर्तक संजय महाजन का भाव नृत्य था, जिसमें करिश्मा ने भी नृत्यमय शामिल होकर दर्शकों को मोह लिया। संगीत, स्वरांश संगीत एवम शिक्षण केन्द्र बडवाह का रहा और गायक थे संगीत गुरु, भवानीशंकर व्यास। कार्यक्रम का भावभीना संचालन रवीन्द्र दुबे रवि ने किया। आभार प्रदर्शन प्रवीण दुबे ने किया। - **प्रस्तुतिः परमजीतसिंह राजपाल**

चर्चा में 'कथा कोश'

रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व विद्यालय एवं टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र भोपाल द्वारा संचालित वनमाली सृजन केन्द्र टीकमगढ़ की 'कथा गोष्ठी', 'आकांक्षा' पब्लिक स्कूल, टीकमगढ़ में आयोजित की गयी। अध्यक्षता वरिष्ठ कथाकार डॉ. रूखसाना सिद्दीकी ने की। अतिथि बल्देवगढ़ से पधारे वरिष्ठ कहानीकार यदुकुल नंदन खरे और विशिष्ट अतिथि रंगकर्मी एवं कथाकार गीतिका वेदिका रहीं। सीताराम राय ने सरस्वती वंदना प्रस्तुत की। सृजन केन्द्र के अध्यक्ष एवं संयोजक राजीव नामदेव 'राना लिधौरी' ने बताया कि वनमाली सृजन केन्द्र में कथाओं पर केन्द्रित गोष्ठियाँ आयोजित की जायेगी, जिसमें नगर के कथाकारों को एक सशक्त मंच मिलेगा तथा उनकी कहानियों को विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के अवसर प्रदाय किये जायेंगे। केन्द्र द्वारा एक पुस्तकालय स्थापित किया जायेगा, जिसमें लेखकों की पुस्तकों के अलावा प्रमुख पत्र-पत्रिकायें भी होगी।

वनमाली सृजन केन्द्र टीकमगढ़

'कथा मध्यप्रदेश' कहानी खण्ड-1 की समीक्षा हाजी जफरउल्ला खा 'जफर' ने की। उन्होंने कहा कि कोश में प्रकाशित अधिकांश कथायें उस समय के सामाजिक परिवेश, दशा एवं समस्याओं को प्रदर्शित करती हैं। अजीत श्रीवास्वत ने कहा कि- 'शोध पर शोध को लुभाती कथा कोश' का दाम थोड़ा अधिक है लेकिन कृति अनोखी बन पड़ी है।' आर.एस. शर्मा ने कहा कि- 'यह कोश नई पीढ़ी को भाषा और संवाद से जोड़े रखे, इस दृष्टि से सम्पादक संतोष चौबे की पहल स्तुत्य है।'

खण्ड-2 की समीक्षा करते हुए राजीव नामदेव ने कहा कि- ''सौ सालों के कथा इतिहास को 6 खण्डों में लगभग 200 कथाओं के साथ-साथ 35 लेखों प्रकाशन किया गया है जो कि एक बहुत की श्रम साध्य कार्य है। पूर्व प्राचार्य एन.एम. अवस्थी ने कहा कि ये कहानियाँ इतिहास में मील का पत्थर साबित होगी। गीतिका वेदिका ने कहानी 'जलदान' कहानी सुनायी। गोष्ठी की अध्यक्षता कर रहीं डॉ. रूखसाना सिद्दीकी ने कहा कि ये कथाकोश कहानियों का उपवन है। पं. हरिविष्णु अवस्थी, यदुकुल नंदन खरे, परमेश्वरी दास तिवारी, वीरेन्द्र चंसौरिया, विजय मेहरा, रन्विद्र यादव, विकास नापित, राजेश्वर पाराशर 'राज' आदि ने भी अपने विचार रखे।

संचालन अध्यक्ष राना लिधौरी ने किया। आभार परमेश्वरी दास तिवारी ने माना।

प्रेम, उदासी और मानसिक द्वंद्व की कहानी

'सतह पर तैरती उदासी'

प्रेम और मानसिक द्वंद्व के बीच अनुभव का एक नया फलसफ़ा तैयार करती अपनी नई कहानी 'सतह पर तैरती उदासी' का पाठ करने लेखक संतोष चौबे स्वराज भवन में मुखातिब हुए। साहित्य प्रेमियों और दोस्तों के बीच अपनी अनूठी कथन शैली और संवाद का रोचक परिवेश रचते हुए चौबे ने कहा कि उनकी कहानी चल रहे जीवन से ही विषय और किरदार चुनती है। मेरी कोशिश रही है कि कहानी अंततः हमारे समय के किसी ज़रूरी विमर्श की आवाज़ बनें।

लगभग एक घंटे के इस वाचिक पाठ को श्रोताओं ने मनोयोग पूर्वक सुना। ग़ौरतलब है कि चौबे की कहानियों के कई भाषाओं में अनुवाद तथा नाट्य रुपांतरण हुए हैं। कई वरिष्ठ और युवा रंगकर्मियों ने भोपाल, दिल्ली, मुंबई सहित अन्य शहरों में कहानियों का मंचन भी किया है। प्रसंगवश यह भी कि भारतीय ज्ञान पीठ से प्रकाशित तथा शैलेष मटियानी स्मृति राष्ट्रीय सम्मान से अलंकृत चौबे के उपन्यास 'जलतरंग' का नाट्य मंचन भी काफी चर्चित और लोकप्रिय रहा है।

साहित्य संस्था 'स्पंदन' के संयोजन में हुए इस पाठ-प्रसंग की अध्यक्षता कथाकार मुकेश वर्मा ने की। वर्मा ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा कि संतोष चौबे की कहानियां पाठक से आत्मीय रिश्ता जोड़ती हैं। कहानी बुनने की कला में उनकी क्राफ्टमेनशिप कमाल की होती है। उन्होंने कहा कि चौबे की हरेक कहानी एक नया विषय खोलती है। उसे कहने एवं पढ़ने की अद्भुत कला उनके पास है।

युवा आलोचक अरूणेश शुक्ल ने चौबे की इस नई कहानी का संदर्भ लेते हुए कहा कि उनकी रचना में दृश्य, गति और इतिहास का अद्भुत संगम होता है। यह तमाम चीज़ों को समकालीन विमर्श से जोड़ देता है। चौबे की कहानी नाटकीय सघनता से भरी संवाद और सौन्दर्य बोध का सुंदर संयोग होती है। इसलिए कहानी पाठ की उनकी शैली में रोचकता लगातार बनी रहती है।

कार्यक्रम का संचालन करते हुए स्पंदन की संयोजक और कहानीकार उर्मिला शिरीष ने संतोष चौबे की लेखकीय यात्रा पर व्यक्त दिया। इस अवसर पर वरिष्ठ कथाकार रमाकांत, शशांक, कवि राजेश जोशी, रामप्रकाश त्रिपाठी, राजेन्द्र शर्मा, बलराम गुमास्ता, महेन्द्र गगन, रेखा कस्तवार, सहित साहित्य कला से जुड़े रचनाकार और साहित्य प्रेमी उपस्थित थे।

'रंग संगीत' में उभर आए हबीब और कारंत के अक्स

रंग संगीत : टैगोर विश्व विद्यालय में राजीव सिंह और उनका दल

दुनिया में बादशाह है सो वो भी आदमी ..... और मुफ़लिसो गदा है सो है वो भी आदमी..., ज़रदार बेनवा है सो वो भी आदमी..., टुकड़े जो मांगता है सो वो भी आदमी... शायर नज़ीर अकबराबादी की ये नज़्म जब टैगोर विश्वविद्यालय के शारदा सभागार में कई आवाज़ों के साथ गूंजी तो रंगमंच एक बार फिर इंसानियत के पैगाम लिए मुखर हो उठा।

विश्व रंगमंच दिवस के अवसर पर टैगोर विश्व कला केन्द्र द्वारा संयोजित 'रंगसप्तक' की इस विशेष सभा में प्रसिद्ध नाट्य संगीतकार राजीव सिंह ने 'आगरा बाज़ार', 'स्कंद गुप्त', 'हयवदन', 'लिख लाहौर नहीं देख्या' जैसे बहुचर्चित नाटकों के गीत-संगीत का दिलचस्प ताना-बाना तैयार किया। वहीं रंगमंच के सिद्ध अभिनेता और म.प्र. नाट्य विद्यालय के निदेशक आलोक चटर्जी ने 'रंगमंच और व्यक्तित्व विकास' विषय पर अपने सारगर्मित विचार व्यक्त किये।

इस मौके पर टैगोर विश्व विद्यालय के कुलपति प्रो. ए.के. ग्वाल और कला संस्कृति केन्द्र के निदेशक, कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने भी रंगमंच के मौजूदा परिदृश्य और नाट्य कला की अहमियत पर अपने विचार रखे।

दुनिया भर में अमन और भाईचारे के संदेश के साथ अपना सफ़र कायम करने वाला थिएटर 'रंगसप्तक' के मंच पर एक नई उम्मीद के साथ चहक उठा। टैगोर विश्व कला एवम् संस्कृति केन्द्र ने राजधानी की छः नौनिहाल अदाकार प्रतिभाओं ईशा गोस्वामी, स्तुति तिवारी, मालविका चतुर्वेदी, सुयष श्रीवास्तव, ग्रेसी गोस्वामी और आयुष चतुर्वेदी को उनकी उत्साही सहभागिता के लिए सम्मानित किया। कुलपति डा. ग्वाल, आलोक चटर्जी और इलेक्ट्रॉनिकी की संपादक विनीता चौबे ने इन बाल कलाकारों को प्रतीक चिन्ह भेंट कर उन्हें प्रोत्साहित किया।

टैगोर विश्व कला केन्द्र ने मनाया 'विश्व रंगमंच दिवस'

सम्मान और प्रोत्साहन : रंगमंच के नौनिहाल अदाकार

आलोक चटर्जी ने रंगमंच की बुनियादी खूबियों का ज़िक्र करते हुए कहा कि नाटक अकेला ऐसा माध्यम है जहाँ मनुष्यता को बहुत सघन अर्थों और आशयों के साथ जिया जा सकता है। इसीलिए व्यक्तित्व विकास की तमाम संभावनाएँ रंगमंच को जीकर हासिल की जा सकती है। चटर्जी ने कहा कि रंगमंच कलाओं की आपसदारी के बीच सजीव होता है इसलिए यह सामूहिकता का सबक देता है। यहाँ समझ और संवेदना का नया फ़लक तैयार होता है। आत्मविश्वास और व्यक्तित्व के लगातार निखार के लिए रंगमंच की पाठशाला से बेहतर कोई विकल्प नहीं है।

समारोह के दूसरे चरण में राजीव सिंह द्वारा संयोजित रंग संगीत ने माहौल को सुर-ताल भरी महक लिए नई ऊर्जा से भर दिया। बिशना चौहान, अंशपायन, फैज़ान ख़ान, महिमा ठाकुर, सचिन बोरे, प्रदीप डोंगरे, गगन प्रकाश सहित करीब बीस कलाकारों ने मिलकर जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, नज़ीर अकबराबादी, गिरीश कर्नाड और रवि तनवीर की उन रचनाओं का कोरस प्रस्तुत किया जो नाटकों की विषय वस्तु या कहानी का हिस्सा रही हैं। ये नाटक स्कंद गुप्त, महानिर्वाण, हयवदन, चंदा बेड़नी, पैसा फेंक तमाशा देख... जैसे लोकप्रिय प्रयोगों की जीवंत मिसाल रहे हैं।

प्रणति पर्व

शब्द, स्वर और अभिनय में उजली टैगोर की विरासत

धरती, प्रकृति और प्रेम को पुकारते गीत और बांग्ला की पारंपरिक धुनों के बीच डूबता-उतराता संगीत..। रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय के शारदा सभागार में फैलती इस अनुगूँज के बीच भारत के शिखर संस्कृति पुरूष की धरोहर को श्रद्धापूर्वक याद किया गया। कवि-कला गुरू रवीन्द्रनाथ टैगोर की जयंति पर आयोजित 'प्रणति पर्व' को रंगकर्मी संगीतकार रीना सिन्हा के रेनी वृन्द की गान-प्रस्तुति तथा पापिया दासगुप्ता और आलोक चटर्जी द्वारा प्रस्तुत 'कर्ण-कुंति' संवाद ने कलात्मक दिव्यता प्रदान की। इस अवसर पर टैगोर विश्वकला एवम् संस्कृति केन्द्र के निदेशक विनय उपाध्याय ने रवीन्द्रनाथ की कविता और उनके संगीत की आध्यात्मिक व्याख्या की। विश्वविद्यालय के कुलपति डा. प्रो.ए.के. ग्वाल तथा कुल सचिव डा. विजय सिंह इस अवसर पर विशेष रूप से उपस्थित थे।

कर्ण-कुंती संवाद

महाभारत का युद्ध निश्चित हो जाने पर कुंती व्याकुल हो उठीं। वे नहीं चाहती थी कि कर्ण का अन्य पाण्डवों के साथ युद्ध हो। वे कर्ण को समझाने के उद्देश्य से उनके पास पहुँची। कुंती का आता देखकर कर्ण उनके सम्मान में उठ खड़े हुए और झुक कर बोले, ''आप प्रथम बार मेरे यहाँ आई हैं अत: आप इस इस 'राधेय' का प्रणाम स्वीकार कीजिये।'' कुंती का हृदय व्यथित हो गया और उन्होंने कहा, ''पुत्र! तुम 'राधेय' नहीं 'कौन्तेय'' हो। मुझ अभागन ने ही तुम्हें जन्म दिया था किन्तु लोकाचार के भय से मुझे तुमको त्यागना पड़ गया था। तुम पाण्डवों के ज्येष्ठ भ्राता हो। इसलिये इस युद्ध में तुम्हे कौरवों का साथ छोड़कर अपने भाइयों का साथ देना चाहिए। मेरी इच्छा है कि युद्ध जीतकर तुम इस राज्य के राजा बनो।'' कर्ण ने उत्तर दिया, हे माता! आपने शैशवास्था में ही मेरा त्याग कर दिया था। इसलिये क्षत्रियों के उत्तम कुल में जन्म लेने के बाद भी मैं सूतपुत्र कहलाता हूँ। इसीलिए द्रोणाचार्य ने मेरा गुरू बनना स्वीकार नहीं किया। युवराज दुर्योधन के सिवाय अन्य किसी ने मेरा साथ नहीं दिया। वे मेरे सच्चे मित्र हैं और मैं उनके द्वारा किये गये उपकार को भूल कर कृतघ्न नहीं बन सकता। इतने पर भी आपका मेरे पास आना व्यर्थ नहीं जायेगा क्योंकि आज तक कर्ण के पास से बिना कुछ पाये खाली हाथ कभी कोई वापस नहीं गया है। मैं आपको वचन देता हूँ कि मैं अर्जुन के सिवाय आपके किसी पुत्र पर अस्त्र-षस्त्र का प्रयोग नहीं करूँगा। मेरा और अर्जुन का युद्ध अवश्यम्भावी है और उस युद्ध में हम दोनों में से एक की मृत्यु निश्चित है। मेरी यह प्रतिज्ञा है कि आप पाँच पुत्रों की ही माता बनी रहेंगी। कर्ण की बात सुनकर तथा उन्हें आशीर्वाद देकर कुंती व्यथित हृदय लेकर लौट आई।

कर्ण-कुंती संवाद : आलोक चटर्जी और पापिया दासगुप्ता

टैगोर के गीत-संगीत का समवेत : रेनी वृन्द (भोपाल) के कलाकार

विश्वविद्यालय के मुक्ताकाश में टैगोर की प्रतिमा पर सामूहिक पुष्पांजलि के साथ ही 'प्रणति पर्व' का विधिवत शुभारंभ हुआ। करतल ध्वनि के बीच मंच पर वरिष्ठ रंगकर्मी पापिया दासगुप्ता और आलोक चटर्जी की आमद हुई। सिलसिला शुरू हुआ कर्ण और कुंती के बीच मार्मिक संवाद का। महाभारत की कथा से जुड़े इन दो किरदारों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को टैगोर ने बांग्ला कविता में गहराई से चित्रित किया है। लगभग पन्द्रह मिनिट के इस हिन्दी अनुवादित अभिनय-पाठ को सुनना टैगोर की रचनात्मक दृष्टि से भी वाकिफ होना था। पापिया और आलोक इस संवाद को इससे पहले भी मंच से प्रस्तुत कर चुके हैं।

समारोह के दूसरे चरण में रीना सिन्हा द्वारा संयोजित वृन्दगान प्रस्तुति में टैगोर के सात गीतों को रवीन्द्र संगीत तथा अन्य नई-पुरानी शैलियों में अठारह कलाकारों ने पेश किया। शुरूआत ''धॉनो धान्य पुष्पे भौरा'', जैसे भारत महिमा गान से हुई। समापन टैगोर की बेहद लोकप्रिय रचना 'ऐक्ला चला रे'' से हुई। सामूहिक स्वरों में संगीत के नए प्रयोगों के साथ रेनी वृंद के कलाकारों में प्रेरणा मिश्रा, अपर्णा सोनी, अनुष्का, यश, चंदन, हिमांषु चौधरी, यश, शिवम मोदक, अमज़द ख़ान, आनंद पंदेश्री, सौरव पेरिया आदि शामिल थे।

रंगभूमि पर अवतारों की रोचक गाथा

भोपाल और खंडवा में रंगश्री का 'दशावतार'

कविता, संगीत, नृत्य और अभिनय का सुंदर तालमेल हो तो रंगमंच खुद-ब-खुद एक दिलचस्प कलाकृति में बदल जाता है। ऐसे ही अनूठे अनुभव को साकार होते नई पीढ़ी ने 'दशावतार' में देखा। ...पुराण के पन्नों पर दर्ज़ कथाएँ चाहे कितनी ही शताब्दियों पुरानी हो लेकिन उनके भीतर गहरे तक रचा-बसा संदेश समय के हर दौर में इंसानियत के लिए मंत्र की तरह पवित्र रहा है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व विद्यालय भोपाल के शारदा सभागार, स्कोप इंजीनियरिंग कॉलेज के मुक्ताकाश मंच तथा गौरीकुंज सभागार खंडवा में 'दशावतार' की दिव्य प्रस्तुति ने एक फिर इस सनातन सूत्र को रेखांकित किया। रंग श्री लिटिल बैले ट्रूप के करीब दो दर्ज़न कलाकारों ने अपनी चिर-परिचित शैली में भगवान विष्णु के दस अवतारों को जीवंत कर दिया। दोनों ही मंचनों के दौरान आईसेक्ट समूह के अध्यक्ष तथा साहित्यकार-संस्कृतिकर्मी संतोष चौबे विशेष रूप से उपस्थित थे।

खंडवा में 'दशावतार' का प्रस्तुति संयोजन वनमाली सृजन पीठ की स्थानीय इकाई, टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र, डॉ. सी.वी. रामन विश्व विद्यालय ने मिलकर किया। 'दशावतार' के इस मंचन को देखने अनेक छात्र-छात्राएँ तथा शहर के कलाप्रेमी बड़ी तादाद में उपस्थित थे।

गीत-संगीत, अभिनय, नृत्य गतियों और सुन्दर प्रकाश संचालन से निखरे इस कला रूपक को देखना हमेशा ही एक दिलचस्प अनुभव होता है। वरिष्ठ आलोचक रामप्रकाश, टैगोर कला केन्द्र के निदेशक विनय उपाध्याय, संस्कृतिकर्मी-उद्घोषक आलोक जोशी (खंडवा) ने छात्र-छात्राओं को प्रस्तुति से जुड़े कलात्मक और व्यावहारिक पहलुओं से अवगत कराया। सृजन पीठ खंडवा इकाई के अध्यक्ष शरद जैन, संयोजक लुकमान मसूद, सह संयोजक गोविंद शर्मा ने शहर के रसिक समुदाय को अगामी सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी दी।

उल्लेखनीय है कि रंगश्री लिटिल बैले ट्रूप ने अपनी लोकप्रिय प्रस्तुतियों को शिक्षा परिसरों और छोटे शहरों-कस्बों में मंचित करने का नया सिलसिला शुरू किया है।

'दशावतार' की कथा

सुर-ताल-लय में निबद्ध नृत्य नाटिका 'दशावतार' रंगश्री लिटिल बैले ट्रप की नयी रंग प्रस्तुति है। 'दशावतार' भारतीय मिथक के अनुसार विष्णु के अवतारों की सर्वविदित श्रृंखला है। भारतीय अवतारवाद की अवधारणा महज कल्पना नहीं है। बल्कि इसके पीछे वैज्ञानिक विकासवाद का सिद्धान्त भी है। यह नृत्य नाटिका भारतीय मनीषा की वैज्ञानिक चेतना को भी स्पष्ट करती है।

माना जाता है कि ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना मनुष्य है, जो मानवीय सृष्टि के केन्द्र में है। यह भारतीय अध्यात्मिक मानस का सहज, सरल, बोधगम्य निष्कर्ष हैं विकासवादी दर्शन की मान्यता है कि ईश्वर विकसित मनुष्य के मस्तिष्क की अद्भुत संरचना है। दिलचस्प अवधारणा है कि हर मानव की आत्मा में परमात्मा है और समस्त आत्माओं का पुंजीभूत स्वरूप परमात्मा है। यही प्रस्तुति का केन्द्रीय भाव है, जो दर्शन और विज्ञान में अद्वैत की प्रतीत कराता है।

'दशावतार' की परिकल्पना ओडिशी की नृत्यांगना बिन्दु जुनेजा फगरे ने की है। अवतारों के आह्वान से निश्चल प्रेम तथा मूलभूत एकत्व के शुभ संकल्पों द्वारा संसार के कल्याण की कामना है। संगीत बांसुरी वादक अभय फगरे का है और प्रकाश परिकल्पना घनश्याम गुर्जर की रही।

रंगश्री की इस 'दशावतार' की प्रस्तुति का प्रयोजन भी ज्ञान और कला का उजास ही है। नृत्य संरचना में गाथा संस्कृति के महाकवि जयदेव की प्रसिद्ध कृति 'गीतगोविंद' का भाव विस्तार है जो रचना को लालित्य और सौंदर्य प्रदान करता है। इस प्रस्तुति को रंगश्री ने व्यापक शोध-संदर्भों के साथ परिकल्पित किया है। जहाँ एक ओर 'दशावतार' की पौराणिक व्याख्या आस्था के एक अलग छोर पर जाकर टिकती है, वहीं अद्वैत की अवधारणा का वैज्ञानिक पक्ष भी खुलता है। अभय फगरे ने विभिन्न राग-रागिनियों में संगीत का माधुर्य घोला है, वहीं बिन्दु फगरे ने देह गतियों और मुद्राओं के नृत्य-अभिनय से प्रसंगों को सुंदर और सार्थक दृश्य बंधों में हासिल किया है। घनश्याम गुर्जर की प्रकाश योजना में रंगों का प्रसंगानुकूल इस्तेमाल न केवल इस रूपक को नया सौन्दर्य बोध देता है बल्कि भाव प्रभाव की नई भंगिमा भी प्रदान करता है।

व्यंग्य को उपन्यास में बदलती 'तंत्र कथा'

एक लंबी व्यंग्य रचना लिखना तथा उसे व्यंग्य उपन्यास में बदल देना बहुत कुशल लेखकीय कारीगरी की माँग करता है। जब किसी लेखक को व्यंग्य तथा उपन्यास दोनों की गहरी समझ होती है। जब वह व्यंग्य और उपन्यास दोनों कठिन विधाओं को एक साथ निभा लेता है तब कहीं जाकर ऐसी रचना बनती है जैसी यह 'तंत्र कथा' बनी है।

प्रख्यात व्यंग्यकार डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी ने यह बात वरिष्ठ लेखक कुमार सुरेश के हाल ही प्रकाशित उपन्यास 'तंत्र कथा' का लोकार्पण करते हुए कही। कार्यक्रम की अध्यक्षता कथाकार-आलोचक मुकेश वर्मा ने की। वनमाली सृजन पीठ द्वारा स्वराज भवन में आयोजित एक आत्मीय समारोह में आलोचक मलय जैन और कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने भी कुमार सुरेश के लेखकीय व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला। आरंभ में कुमाार सुरेश ने उपन्यास 'तंत्र कथा' की विषय वस्तु तथा पृष्ठभूमि खुलासा करते हुए बताया कि यह उपन्यास उन्होंने श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' तथा ज्ञान चर्तुवेदी के उपन्यास 'नरक यात्रा' की कड़ी के रूप में लिखने का प्रयास किया है। सरकारी कार्यालयों और सरकारी अधिकारियों के जीवन में बहुत कुछ ऐसा होता है जो बाहरी चमक दमक के कारण गुम जाता है।

मलय जैन ने इस अवसर पर बीज वक्तव्य देते हुये कहा कि वर्तमान में व्यंग्य उपन्यास उंगलियों पर गिने जाने लायक हैं और बहुत कम संख्या में लिखे जा रहे हैं। इस उपन्यास की भाषा व्यंग्यात्मक, विनोदपूर्ण और चुटीली है। जो इसे पढ़ने के लिये आमंत्रित करती है।

मुख्य अतिथि डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी ने अपने उद्‌बोधन में कहा कि इस उपन्यास 'तंत्र कथा' का विषय अभी तक प्रकाशित व्यंग्य उपन्यासों से अलग तथा अनूठा है। एक सामान्य व्यंग्य रचना लिखना, एक लंबी व्यंग्य रचना लिखना, एक उपन्यास लिखना तथा एक व्यंग्य उपन्यास लिखना ये सभी बहुत अलग बातें हैं। एक लंबी व्यंग्य रचना लिखना तथा उसे व्यंग्य उपन्यास में बदल देना बहुत कुशल लेखकीय कारीगरी की माँग करता है। जब किसी लेखक को व्यंग्य तथा उपन्यास दोनों की गहरी समझ होती है। जब वह व्यंग्य और उपन्यास दोनों कठिन विधाओं को एक साथ निभा लेता है तब कहीं जाकर ऐसी रचना बनती है जैसी यह 'तंत्र कथा' बनी है। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में कथाकार मुकेश वर्मा ने इस उपन्यास के रचनात्मक ताने-बाने की सराहना करते हुए कहा कि बेशक यह कृति उपन्यास की परंपरा में नया पहलू जोड़ती है।

'तंत्र कथा' के लेखक कुमार सुरेश

वनमाली सृजन पीठ ने किया चित्रा मुद्गल का सारस्वत अभिनन्दन

सुनाए 'नालासोपारा' के अंश, पेश किया 'कुबूलनामा'

लिखकर भी मिट नहीं पाया अपराध बोध

हाल ही में साहित्य अकादमी दिल्ली के प्रतिष्ठा सम्मान (2018) से विभूषित हिन्दी की सुप्रतिष्ठित कथाकार चित्रा मुद्गल के भोपाल आगमन पर उनका सारस्वत अभिनन्दन किया गया। वनमाली सृजन केन्द्र द्वारा हिन्दी भवन के महादेवी वर्मा कक्ष में आयोजित गरिमामय समारोह में मूर्धन्य आलोचक डॉ. धनंजय वर्मा तथा सृजन पीठ के राष्ट्रीय अध्यक्ष संतोष चौबे ने शॉल, श्रीफल तथा प्रतीक चिन्ह भेंटकर चित्रा जी को सम्मानित किया। प्रसिद्ध कथाकार-चित्रकार प्रभु जोशी और 'इलेक्ट्रॉनिकी' की संपादक विनीता चौबे भी इन क्षणों में उपस्थित रहे।

चित्रा मुद्गल ने साहित्य अकादमी पुरस्कार से नवाजे गए उपन्यास 'पोस्ट बाक्स नं. 203 नालासोपारा' पर केन्द्रित 'कुबूलनामा' का मर्मस्पर्शी पाठ करते हुए कहा कि मैं स्वीकार करती हूँ यह कि 'पोस्ट बॉक्स नं. 203, नालासोपारा' लिख लेने के बाद भी मैं उस अपराध बोध से मुक्त नहीं हो पाई हूँ, जिससे मुक्ति की कामना ने मुझसे यह उपन्यास लिखवाया। अपने चेतना से लगातार मुठभेड़ करती हुई मैं लिखी जाती पंक्ति-दर-पंक्ति की पगडंडियों की माटी में गहरे धँसी, तीखी, नुकीली कंकड़ियों को उचकाते, बीनते, बीन कर उखाड़ फेंकते उन रास्तों को तलाशती रही और सोचती रही, जिन पर चलते हुए खोज लूँगी उन्हें और चिन्हित कर सकूँगी उन अपराधियों को जो मुझे मुक्त कर देंगे उस अपराध बोध से, स्वयं ही यह कुबूल करे कि फिजूल ही तुम परिताप में घुल रही हो जो अपराध तुमने किया ही नहीं उसके लिए स्वयं को दोषी क्यों ठहरा रही हो। हो सकता है वह अपराध तुम्हारी बुजुर्ग पीढ़ी से हुआ हो या बुजुर्ग पीढ़ी की पूर्व पीढ़ी से या पूर्व पीढ़ी की पूर्व पीढ़ी से या उस पूर्व पीढ़ी की पूर्व पीढ़ी से। तुमने यदि अपनी कोख से किसी लिंग विकलांग शिशु को जन्म देकर उसे घर परिवार के लिए कलंक मान कर उठा कर घूरे पर फेंक दिया होता तो दोशी तो तुम तब होती। उन्होंने अपने कुबूलनामे के अंत में कहा कि पोस्ट बॉक्स नं. 203, नाला सोपारा मेरी वही आत्मस्वीकृति है, मुक्त होना चाहती हूँ मैं इस कलंक से। मेरे लिए दुआ कीजिए..

अपने संक्षिप्त उद्बोधन में डॉ. धनंजय वर्मा ने चित्रा मुद्गल के रचनात्मक जीवन और उनकी अनेक उपलब्धियों की प्रति आदर और प्रेम प्रकट करते हुए कहा कि चित्रा जी का सुयश निरंतर विस्तार पाए। प्रभु जोशी ने 'नालासोपारा' में मुख्य किरदार के आस-पास तैरती गहरी संवेदनाओं को एक लेखिका की अनुभूति की तीव्रता बताया। उन्होंने कहा कि 'थर्ड जेंडर' को लेकर लिखा गया यह एक अनूठा उपन्यास है जो कई सवालों के साथ हमारे समाज और सिस्टम को नए सिरे से देखने-समझने की निगाह देता है। उल्लेखनीय है कि चित्रा जी को उनके समग्र रचनात्मक योगदान के लिए वनमाली सृजन पीठ भोपाल द्वारा 'राष्ट्रीय वनमाली कथा सम्मान' से भी सादर विभूषित किया जा चुका है।

समारोह में मप्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के मंत्री-संचालक कैलाशचन्द्र पंत सहित डॉ. विजय बहादुर सिंह, डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी, श्याम मुंशी, उर्मिला शिरीष, रेखा कस्तवार, बलराम गुमास्ता, रामवल्लभ आचार्य, महेन्द्र गगन, आनंद कुमार सिंह आदि अनेक रचनाधर्मी उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन वरिष्ठ कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया। आभार मुकेश वर्मा ने माना।

मधुर को 'साहित्य भूषण'

विश्व हिन्दी रचनाकार मंच दिल्ली द्वारा वरिष्ठ कवि एवं समालोचक मनोहर पटेरिया 'मधुर' को 'साहित्य भूषण सम्मान' से सम्मानित किया गया। संस्था के संस्थापक राघवेन्द्र ठाकुर, अध्यक्ष महेश सक्सेना विशिष्ठ अतिथि मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी के अध्यक्ष डॉ. सुरेन्द्र बिहारी गोस्वामी, डॉ. प्रेमलता नीलम और समीक्षक युगेश शर्मा विशेष रूप से उपस्थित थे। समारोह हिन्दी भवन भोपाल के महादेवी वर्मा कक्ष में आयोजित किया गया। मधुर के साथ ही राजस्थान, गुजरात, उत्तरप्रदेश, छत्तीसगढ़ और बिहार के रचनाकार भी सम्मानित किये गये।

'प्रेरणा' को मिला पं. द्विवेदी सम्मान

गांधी भवन, भोपाल के मोहनिया हॉल में मीडिया विमर्श की ओर से आयोजित सम्मान समारोह में साहित्यिक पत्रिका 'प्रेरणा' के संपादक अरुण तिवारी को ग्यारह हजार रुपये, शाल, श्रीफल, प्रतीक चिह्न और सम्मान पत्र से अलंकृत किया गया। इस अवसर पर साहित्यकार एवं पत्रकार सुधीर सक्सेना, मुकेश वर्मा, गिरीश पंकज, अरविंद तिवारी और मीडिया विमर्श के संपादक डॉ. श्रीकांत सिंह एवं कार्यकारी संपादक संजय द्विवेदी उपस्थित रहे।

अध्यक्षता कर रहे आलोचक विजय बहादुर सिंह ने कहा कि साहित्य आपकी चेतना की पहचान बनता है। उन्होंने कहा कि साहित्यिक पत्रिकाओं के बहुत संग्रहणीय अंक निकलते हैं, लेकिन यदि यह पत्रिकाएं नयी रचनाशीलता और नयी प्रतिभाओं को नहीं उभार पा रही हैं, तो हमें यह मान लेना चाहिए कि यह पत्रिकाएं साहित्य के स्टोररूम बन रही हैं। सिंह ने कहा कि साहित्य जगत में सोशल मीडिया के कारण एक भयंकर जनतंत्र आया है, उससे निपटना भी साहित्यिक पत्रकारिता के लिए जरूरी है।

कथाकार मुकेश वर्मा ने कहा कि साहित्यिक पत्रकारिता हमेशा हाशिये पर रही है और उसे कभी राजनीतिक पत्रकारिता की हैसियत नहीं मिल सकी, लेकिन इस तरह के आयोजन साहित्यिक पत्रकारिता को स्थापित करने में महत्वपूर्ण कदम हैं। अरुण तिवारी ने इस अवसर पर कहा कि सुखद आश्चर्य तब होता है जब पुरस्कार अनायास हो। 'प्रेरणा' को शुरू करने के उद्देश्य को बताते हुए उन्होंने कहा कि वह एक ऐसी पत्रिका की शुरुआत करना चाहते थे, जिसे आम लोग पढ़ें। प्रेरणा एक ऐसी पत्रिका है, जिसमें सभी विचारधाराओं के लेखकों को जगह दी जाती है।

मुरली पर 'मधुवंती'

भोपाल के राजनैतिक रंगमंच पर भले ही जय-पराजय का मिला-जुला गान उन दिनों गूँजता रहा हो लेकिन कला की रंगभूमि पर इंसानियत को पुकारती मुरली की तान अमन का पैगाम लिए देर तक वादियों में लहराती रही। अपने अधरों पर बाँसुरी थामें पंडित हरिप्रसाद चौरसिया और राजधानी के नव सज्जित मिंटो हॉल में सजी महफिल में मौसिकी के कद्रदानों का हुजूम। ये चैन की बंसी थी जिसके मीठे-मदिर स्वरों में डूबते-उतराते हुए बुझे और बेचैन मन सुकून का कोई ठौर तलाशते रहे। 'हृदय दृश्यम' के नाम से रचे जलसे का यह सुरीला आगाज़ बेशक सर्दियों की एक खुशनुशा शाम का गुलाबी अहसास समेट लाया।

संस्कृति और पर्यटन महकमे की साझा पहल से शहर की बेमिसाल ऐतिहासिक ईमारतों और कलाओं के मरकज़ (भारत भवन) में संगीत की चुनिंदा और चोखी पेशकश को सुनने के ये बेशक बेशकीमती लम्हे। मिंटो की चार-दीवारी में बांसुरी के फरिश्ते को फनकारी इस मायने में और भी अलहदा सी थी। मौके और दस्तूर का ख्याल रखते हुए पंडितजी ने सायंकालीन राग मधुवंती का चयन किया और जुगलबंदी के लिए अपने प्रिय भतीजे और शिष्य राकेश चौरसिया का सुर थामते हुए आलाप, जोड़ और बंदिश का रूहानी मंज़र तैयार किया। सुर-ताल और लयकारी की सधी हुई आपसदारी के बीच अहसासों में गहरे तक उतरती बाँसुरी की तान का तिलिस्म कुछ ऐसा परवान चढ़ा कि जहाँ ठहरकर आत्मा का संगीत खुद-ब-खुद बज उठा हो!

मधुवंती पंडितजी का पसंदीदा राग है। भोपाल की कई महफिलों में वे इसे बजाते रहे हैं। राग के सुरों की तासीर कुछ ऐसी कि कोमल और शुद्ध स्वर मिलकर अपने रंग और खुश्बुओं से भीतर कहीं एक खुश्नुमा दस्तक देता है। छोटे से आलाप और जोड़ में मधुवंती का उन्होंने कल्पनाशील विस्तार किया। बंदिशें रूपक और तीन ताल के सुन्दर छंदों से सजी। सत्यजीत तलवलकर के तबले ने लय का उम्दा पहलू साधा।

बाँसुरी के बाद स्मिता नागदेव के सितार की झंकारों में 'हंसध्वनि' को खिलते देखना रोचक अहसास था। रामेन्द्र सोलंकी की तबले पर संगत ने बंदिश को अनूठे मुकाम पर पहुँचाया।

इन बेहद अहम प्रस्तुतियों के चलते रसिकों को इस बात का मलाल रहा कि सुंदर नक्काशी और भव्यता के बावजूद मिंटो सभागार शास्त्रीय संगीत के अनुकूल संसाधन मुहैया न करा सका। कोमल स्वर कहीं खोकर रह गये।

खंडवा में 'नौ रसों के नौशाद'

भारतीय सिने संगीत की परंपरा में नौ रसों का संचार करने वाले मक़बूल संगीतकार नौशाद अली के चुनिंदा नगमों को दृश्य छवियों के साथ सुनना-देखना बेशक खंडवा वासियों के लिए एक नायाब अहसास था। इस सौगात को संजोए जाने-माने फिल्म विश्लेषक अनिल चौबे खुद अपनी पहल पर पेश आए।

वनमाली सृजन पीठ के मुक्ताकाश परिसर में इस शाम फिल्म समीक्षक सुनील मिश्र को गत वर्ष मिले राष्ट्रीय सम्मान के लिए शहर के सृजन धर्मियों ने सम्मानित किया। उन्होंने नौशाद साहब के संगीत पर छोटी लेकिन मुकम्मल टिप्पणी करते हुए आयोजन के लिए खासी उत्सुकता जगाई। वहीं डॉ. अनिल चौबे ने दृश्य-श्रव्य माध्यम का सहारा लेकर कई दुर्लभ घटनाओं को पर्दे पर उतारा। वनमाली सृजन पीठ खंडवा, सी.वी. रामन विवि खंडवा और रबीन्द्रनाथ विश्व कला एवम संस्कृति केंद्र भोपाल के संयुक्त आयोजन में अतिथियों का स्वागत शरद जैन अध्यक्ष वनमाली सृजन पीठ खंडवा एवम रवि चतुर्वेदी कुलसचिव सीवी रामन विवि खंडवा ने किया। अतिथियों का शाल श्रीफल, स्मृति चिन्ह से सम्मान उपकुलसचिव लुकमान मसूद एवम सृजनपीठ खंडवा के उपाध्यक्ष गोविन्द शर्मा ने किया। कार्यक्रम का संचालन संतोष तिवारी ने किया।

महानता के लिए उदारता जरूरी: असगर

साहित्य और ललित कलाओं को समर्पित स्पंदन संस्था, भोपाल द्वारा राज्य संग्रहालय में 10वाँ स्पंदन सम्मान समारोह आयोजित हुआ। हिन्दी के ज्येष्ठ कथाकार गोविंद मिश्र की अध्यक्षता में रचनाकारों को उनकी साहित्य साधना के लिए षाल श्रीफल, स्मृति चिन्ह और सम्मान निधि भेंटकर सम्मानित किया गया। स्वागत वक्तव्य एवं संयोजन डॉ. उर्मिला शिरीष ने और रचनाकारों का परिचय आनंद कुमार सिंह ने दिया। गोविंद मिश्र ने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा 'सुकूँ की शम्मा जलाओ, अंधेरा बहुत है।' स्पंदन जैसी संस्था प्रकाश फैलाने का बड़ा काम कर रही है। साहित्यकार अपने समय को कठिन समझ लेता है लेकिन प्रतिकूल असर डालने वाली चीज़ें उसे कठिनतम बनाती है। सम्मानित कथाकार नाटककार असग़र वजाहत ने कहा कि समाज को आगे ले जाने का कार्य साहित्य और कलाएँ करती हैं, राजनीति नहीं। महानता के लिये उदारता बहुत जरूरी है। असग़र वजाहत को स्पंदन कथा शिखर सम्मान, उदयन वाजपेयी को कविता संग्रह 'केवल कुछ वाक्य' के लिए स्पंदन कृति सम्मान प्रेम जनमेजय को 'व्यंग यात्रा' पत्रिका के लिए स्पंदन साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान आलोक चटर्जी को रंगकर्म के लिए स्पंदन कला सम्मान, महेष दर्पण को आलोचना कर्म के लिए स्पंदन आलोचना सम्मान, पंकज सुबीर को 'अकाल में उत्सव' उपन्यास के लिए स्पंदन कृति सम्मान एवं थवई थियाम को स्पंदन युवा सम्मान से सम्मानित किया गया।

एक अन्य सत्र में कथाकार मुकेश वर्मा की अध्यक्षता में राजेशी, महेश कटारे, हरीश पाठक, सत्यनारायण पटेल ने कथापाठ किया। वहीं असगर वजाहत की अध्यक्षता में उदयन वाजपेयी, प्रेम जनमेजय, आलोक चटर्जी, महेश दर्पण, पंकज सुबीर एवं थवई थियाम ने भी अपने वक्तव्यों के साथ रचना पाठ किया। सत्रों का संचालन विनय उपाध्याय तथा सुमन सिंह ने किया।

कृति-व्यक्तित्व हुए अलंकृत

गोयनका, मनीषा, मुकेश, वसंत और ज्योति को मिला मान

ढींगरा फ़ैमिली फ़ाउण्डेशन अमेरिका तथा शिवना प्रकाशन का संयुक्त आयोजन 'साहित्य समागम' राज्य संग्रहालय, भोपाल के सभागार में आयोजित किया गया। समारोह में देश भर के साहित्यकारों ने भाग लिया। समारोह में दोनों आयोजक संस्थाओं की ओर से कथा-कविता सम्मान प्रदान किए गए।

शुभारंभ ढींगरा फ़ैमिली फ़ाउण्डेशन के अध्यक्ष डॉ. ओम ढींगरा तथा उपाध्यक्ष डॉ. सुधा ओम ढींगरा ने दीप प्रज्ज्वलित कर किया। तीन सत्रों में आयोजित हुए इस समागम में शिवना प्रकाशन की पुस्तकों का विमोचन तथा रचना पाठ भी शामिल रहा। प्रथम सत्र 'सम्मानित रचनाकारों का पाठ' की अध्यक्षता डॉ. उर्मिला शिरीष ने की। मुख्य अतिथि महेश कटारे थे। सम्मानित रचनाकारों की कृतियों पर बलराम गुमाश्ता, विनय उपाध्याय, समीर यादव तथा डॉ. गरिमा संजय दुबे ने टिप्पणी की। दूसरे सत्र 'अलंकरण समारोह' की अध्यक्षता संतोष चौबे ने की जबकि मुख्य अतिथि पलाश सुरजन थे। सभी सम्मानों के तहत सम्मान राशि, शॉल, श्रीफल तथा सम्मान पट्टिका प्रदान की गई। 'ढींगरा फ़मिली फ़ाउण्डेशन लाइफ़ टाइम सम्मान' डॉ. कमल किशोर गोयनका को, 'ढींगरा फ़मिली फ़ाउण्डेशन अंतर्राष्ट्रीय कथा सम्मान' उपन्यास विधा में मनीषा कुलश्रेष्ठ को उपन्यास 'मल्लिका' हेतु तथा कहानी विधा में मुकेश वर्मा को कहानी संग्रह 'सत्कथा कही नहीं जाती' हेतु प्रदान किया गया। शिवना प्रकाशन का 'शिवना कथा सम्मान' गीताश्री को उपन्यास 'हसीनाबाद' के लिए, 'शिवना कविता सम्मान' वसंत सकरगाए को कविता संग्रह 'पखेरू जानते हैं' तथा 'शिवना कृति सम्मान' उपन्यास 'पार्थ तुम्हें जीना होगा' के लिए कथाकार, कवयित्री ज्योति जैन को प्रदान किया गया।

तीसरे 'विमोचन सत्र' में शिवना प्रकाशन द्वारा प्रकाशित बीस पुस्तकों का विमोचन किया गया। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. प्रेम जनमेजय ने की जबकि मुख्य अतिथि के रूप में शशिकांत यादव उपस्थित थे। समारोह को संबोधित करते हुए संतोष चौबे ने कहा कि भोपाल में अंतर्राष्ट्रीय सम्मान समारोह का आयोजन एक नया साहित्यिक उत्साह जगा रहा है। कथाकार उर्मिला शिरीष ने सम्मानित रचनाकारों और उनके सृजन पर की गई टिप्पणियों को लेखक और पाठक के बीच एक नए उद्वेलन का प्रतीक बताया।

याद आए रंगकर्मी वक़ार फारूकी

मौजूदा दौर के कलाकारों के जेहन में भले ही वक़ार फारूक़ी का नाम कोई पहचान ना रखता हो लेकिन वकार ऐसे रंगकर्मी थे जो हिंदी प्रदेशों की शुरूआत रेपर्टरी में फाउंडर मेंबर्स के तौर पर रहे। चाहे वो 1982 में पहली सरकारी रेपर्टरी भारत भवन का रंगमंडल हो या फिर बंसी कौल की पहली प्राइवेट रेपर्टरी 'रंग विदूषक', दोनों की शुरूआत में वक़ार की अहम भूमिका रही। लिटिल बैले ट्रूप स्टूडियो, भोपाल में 'रंगकर्म में वक़ार फारूकी के योगदान' पर एक परिचर्चा का आयोजन किया गया, जिसमें मप्र नाट्य विद्यालय के निदेशक आलोक चटर्जी, वरिष्ठ रंगकर्मी, संजय मेहता, अनूप जोशी 'बंटी', फरीद खान और वक़ार बेटे व रंगकर्मी दिलशाद फारूकी समेत अन्य रंगकर्मी भी मौजूद रहे।

आलोक चटर्जी ने बताया कि मैंने और वक़ार ने एक साथ 1982 में रंगमंडल ज्वाइन किया। हम सब ऑडिशन देकर नए-नए ही आए थे कि बव कारंत साहब ने भोपाली लहजे में होने वाले नाटक 'दो कश्ती पर सवार' के लिए इसी टोन में गाना लिखना को कहा। वक़ार ने महज दो घंटे में ही नाटक को ओपनिंग सॉन्ग लिख दिया, जिसे कारंत साहब ने अगले दो घंटे में कंपोज़ भी कर दिया। उस वक्त हम सबको लगा कि यह गीतकार और कारंत साहब संगीतकार... इन दोनों की तो कमाल की जोड़ी बनेगी।

आलोक चटर्जी ने बताया कि रंगमंडल के पहले प्रोडक्शन 'चतुर भाड़ी' के गीत भी वक़ार ने लिखे। जब 35 साल बाद बव कारंत ने बतौर एक्टर 'महानिर्वाण' नाटक के जरिए वापसी की तो उस नाटक के भी सभी गाने वक़ार ने ही लिखे थे। घासीराम कोतवाल में वक़ार ने सूत्रधार की भूमिका निभाई थी।

'#itoo' का प्रदर्शन, कविता पाठ व संवाद

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस (7 मार्च) की पूर्व संध्या पर भोपाल स्थित राज्य संग्रहालय के सभाभार में युवा लेखक-निर्देशक सुदीप सोहनी द्वारा बनाई गई शॉर्ट फिल्म '#itoo' का प्रदर्शन, कविता पाठ तथा संवाद का आयोजन किया गया। वनमाली सृजन पीठ के सहयोग से आयोजित इस कार्यक्रम में हिन्दी की कथाकार व जानी-मानी कॉलमिस्ट डॉ रेखा कस्तवार और भोपाल रेंज के आईजी जयदीप प्रसाद बतौर मुख्य अतिथि आमंत्रित थे। यह फिल्म #metoo को लेकर छिड़ी विश्वव्यापी बहस और अभियान को एक संवेदनशील नजरिये से देखती है। इस फिल्म का निर्देशन व लेखन सुदीप सोहनी ने किया है। सिनेमा और रंगमंच पर लगातार सक्रिय सुदीप पुणे फिल्म संस्थान के पूर्व छात्र हैं और सिनेमा पर गंभीर लेखन, नाट्य निर्देशन, कविता व संस्कृतिकर्म में संलग्न हैं। खास यह कि इस फिल्म को भोपाल में बनाया गया है जिसमें सुपरिचित रंगकर्मी हेमंत देवलेकर, शहर की युवा रेडियो जॉकी अनादि और पल्लवी सिंह ने अभिनय किया है। इस फिल्म का बैकग्राउंड म्यूजिक निरंतर बैंड के युवा संगीतकार आशीष प्रसाद ने तैयार किया है। फिल्म का क्रिएटिव प्रोडक्शन व सुपरविजन आशीष खत्री व अनिरुद्ध चौथमोल ने किया है। जबकि आर्ट डाइरेक्शन एकता गोस्वामी और विशाल हतवलने का है। फिल्मांकन अशोक कुमार मीणा ने किया है।

आरंभ में अतिथियों के स्वागत पश्चात हुए कविता पाठ में पल्लवी त्रिवेदी, अनुलता राज नायर, स्मिता राजन, तथा हेमंत देवलेकर ने विशेष रूप से महिलाओं पर केन्द्रित कविताओं का पाठ किया। सुपरिचित कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने संतोष चौबे की लिखी कविता 'अम्मा का रेडियो' और उत्पल बैनर्जी की कविता 'उसे नहीं पता हमने सपनों में' का पाठ किया। कविता पाठ के उपरांत हुए उद्बोधन सत्र में डॉ रेखा कस्तवार ने महिलाओं की स्थिति पर अहिल्या से लेकर आज की नारी के संदर्भों का जिक्र करते हुए बदलाव की बात कही। आई जी श्री प्रसाद ने समाज में हो रही घटनाओं और पुलिस की सक्रिय भूमिका पर बात रखते हुए महिलाओं को आगे आने का आह्वान किया। कविता पाठ व संवाद के पश्चात फिल्म के कलाकारों व अतिथियों की उपस्थिति में फिल्म का पोस्टर अनावारण किया गया और इसके बाद फिल्म का प्रदर्शन हुआ। हाल ही में फिल्म का चयन कोलकाता इंटेरनेशनल कल्ट फिल्म फेस्टिवल 2019 के लिए हुआ है।

फिल्म #itoo

दस मिनट की अवधि यह फिल्म एक प्रयोगात्मक फिल्म है जो महिलाओं के शोषण पर विश्वव्यापी कैंपेन #metoo पर पुरुषों की नैतिक जवाबदेही, स्वीकार्यता और सकारात्मक पहल की कोशिश है। इस फिल्म में समाज और दैनिक जीवन में व्याप्त उन्हीं मानसिक और लगभग नजरअंदाज कर देने वाली प्रवृत्तियों के माध्यम से एक चित्र बनाने की कोशिश की गई है। यह स्त्री-पुरुष के बीच इस नकारात्मक में सकारात्मकता की कोशिश है। फिल्म में कोई संवाद नहीं हैं। साथ ही अधिकतर मौकों पर किरदारों के चेहरे भी नहीं दिखाई देते। फिल्म में 4 पात्र हैं। किरदारों के चेहरों का नहीं दिखाई देना भी प्रतीक के रूप में इस्तेमाल किया है जिससे यह केवल एक आदमी की ही कहानी नहीं रह जाती।

'पंचम निशाद' का स्वर प्रवाह...

राजनीतिक, सामाजिक बहस, विचारों और गोष्ठियों से आबाद एक नई कड़ी शास्त्रीय संगीत की महफिलों की इंदौर प्रेस क्लब में भी जुड़ गई है। इसी के तहत स्वर प्रवाह की श्रृंखला में अपर्णा गुरव के गायन की सभा हुई। गायन की शुरुआत अपर्णा ने राग भूपाली तोड़ी में विलंबित एकताल में निबद्ध वीणा सहस्त्रबुद्धे की गाई बंदिश से की। बोल थे- पार करो मोरी नैया, तुम बिन कौन पालनहार। इसके बाद इसी राग में पंडित सीआर व्यास की गायी मध्यलय त्रिताल में रची बंदिश ' अब मन को कैसे रिझाऊँ ' अपर्णा जी ने उसी गहराई से पेश की। अपनी गायकी को परवान चढ़ाते हुए उन्होंने पंडित भोलानाथ भट्ट की 17 रागों में पिरोयी बंदिश रागमाला बेहद सधे हुए अंदाज़ में गाई। अपर्णा गुरव के गायन का उजला पक्ष सशक्त गायकी के साथ बोलों का स्पष्ट उच्चारण था। कार्यक्रम के उत्तरार्ध में अपर्णा जी ने मराठी अभंग 'विष्णुमय जग, वैष्णवांचा धर्म' पेश करने के बाद फाग के रंग बिखेरते हुए एक रचना 'रसिया को नार बनाओ री' एवं मीराबाई का भजन ' गिरधर झूलत राधा संग' प्रस्तुत किया। 'डारो न डारो मो पे रंग' से सुनकारों के अंतर्मन को भिगोते हुए अपर्णा जी ने कार्यक्रम का समापन किया। उनके साथ तबले पर मिलिंद गुरव और हारमोनियम पर रवि किल्लेदार ने संगत की। कलाकारों का स्वागत पंचम निशाद की ओर से शोभा चौधरी और इंदौर प्रेस क्लब की ओर से अध्यक्ष अरविंद तिवारी ने किया। संचालन और आभार संजय पटेल ने व्यक्त किया।

कविता का रसायन...

बिलासपुर में नरेशजी

नरेश सक्सेना को सुन पाना एक दुर्लभ संयोग था। यह संयोग वनमाली सृजन पीठ, बिलासपुर इकाई ने जुटाया। मेरा ख़्याल था कि वे अपनी कुछ बेहतरीन रचनाएँ सुनाएंगे। लेकिन उन्होंने जब कहना शुरू किया तो उसमें सिर्फ कविता ही नहीं, बल्कि उसकी समूची रचना प्रक्रिया थी। कविता का रसायन था। वास्तव में कविता होती क्या है, इसका विशद विश्लेषण था।

कविता को समझाने के क्रम में उन्होंने सिर्फ अपनी ही नहीं, बल्कि विनोद कुमार शुक्ल एवं अन्यान्य कवियों की कविताएँ भी सुनाई। उन्होंने बताया कि छायावाद के बाद छन्दोबद्ध रचनाओं को पिछड़ा हुआ माना जाने लगा। निराला ने छन्दों को छोड़ने की शुरूआत की। नयी कविता में लय पर ध्यान दिया जाने लगा। लेकिन कविता सिर्फ छन्द और लय भर नहीं है। वह दृष्टि में घटित होती है। छन्द और लय को जाने बिना उससे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। कविता लय से भी मुक्ति पा लेती है। कविता कहन की भंगिमा में होती है। यह कहन भी सहज प्राप्त नहीं होती।

नरेशजी ने बताया कि कविकर्म एक वैज्ञानिक के काम से भी आगे की बात है। कवि को भाषा, इतिहास, संस्कृति के साथ-साथ ज्ञान के अन्य अनुशासनों को भी जानना पड़ता है। इसी क्रम में उन्होंने क्वाण्टम फिजिक्स, प्रकाश की गतिकी आदि सूक्ष्म विज्ञानों और विचारों की सम्पन्नता में कविता के होने की बात कही। उन्होंने कहा कि वे भाषा के क्षेत्र से नहीं हैं। भाषा की पढ़ाई उन्होंने मैट्रिक तक की थी। कविता के प्रति जुनून और जिज्ञासा ही वह चीज़ है जो उन्हें भाषा के निकट ले गई। पैसन हो तभी आदमी अपनी मंजिल तक पहुँच सकता है। उन्होंने बताया कि मूल रूप से उन्होंने इन्जीनियरिंग की पढ़ाई की है। इस क्षेत्र में काम करने के लिए उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उन्हें पुरस्कार भी मिला है। पर कविता उनका जुनून रहा है।

वे कविता के बनने की नहीं, घटित होने की बात करते हैं। उन्होंने एक वाक़या सुनाया-वे और परसाई, मुक्तिबोध को राजनाँदगाँव जाने के लिए जबलपुर रेल्वे स्टेशन छोड़ने जा रहे होते हैं। स्टेशन के पास चाय ठेले वाला खड़ा होता है। संध्या के डूबते सूरज की किरणें उस ठेले पर इस अलौकिक ढंग से पड़ रही होती हैं कि उसे देख कर मुक्तिबोध ठहर जाते हैं। परसाई को बोलते हैं, रुको। परसाई समझते हैं, वे शायद चाय पीना चाहते हैं। वे कहते हैं, पहले टिकट ले लेते हैं, फिर चाय पीते हैं। मुक्तिबोध कहते हैं, अरे रुको! टिकट तो मिल जाएगा, पर तब तक यह नहीं रहेगा। यह अलौकिक छटा। पृथ्वी तब तक सूरज का चक्कर लगाती हुई गुजर चुकी होगी। तब ऐसा अलौकिक दृश्य कहाँ? यही तो कविता है।

नरेश सक्सेना कहते हैं- कविता देखने वाले की दृष्टि में होती है। दृश्य वही रहता है, पर देखने वाला उसे अपनी दृष्टि से देखता है। दृष्टि से दृश्य भी बदल सकता है। मैं आपको गौर से देखूँ तो आपके चेहरे का हाव-भाव बदल जाएगा। कविता की सिन्थेसिस के संबंध में मुक्तिबोध के तीन क्षण बड़े प्रसिद्ध हैं। यह ऑब्ज़र्वेशन और फैन्टेसी से जुड़ी हुई चीज़ है। इस सिद्धान्त का उत्स दो-ढाई सौ वर्ष पहले कोलरीज और वड्र्सवर्थ के सिद्धान्त में मिलता है। उन्होंने प्रथम क्षण इमेजिनेटिव विज़न, दूसरा क्षण एक्चुअल परसेप्शन और तीसरा क्षण फैन्टेसी को माना था। पर उनकी फैन्टेसी में जहाँ भूत-प्रेत जैसे अमूर्त और रहस्यमय धारणाएँ तक शामिल हैं, वहीं मुक्तिबोध फैन्टेसी को विशुद्ध आधिभौतिक धरातल देते हैं। इस प्रकार वे कॉलरीज और वड्र्सवर्थ के फैन्टेसी के सिद्धान्त को आगे ले गए हैं।

नरेश सक्सेना को सुनना, यानी कविता की कीमियागिरी को जानना, उसे बनते हुए देखना है। उन्होंने इस कार्यक्रम को काव्यपाठ नहीं, बल्कि वर्कशाप कहा। सच में यह कविता की वर्कशॉप ही थी जहाँ कविता ढलती हुई दिख रही थी।... मन अधूरा और समारोह का समय पूरा...!

गौरतलब है कि भोपाल, खंडवा और दिल्ली के साथ ही बिलासपुर में साहित्यक सौहार्द की बुनियाद पर अपनी सक्रियता के कदम बढ़ाते हुए वनमाली सृजन पीठ संवाद की रचनात्मक ज़रूरत पूरा करने की सकारत्मक संभावनाओं के साथ आगे आई है। बिलासपुर इकाई के अध्यक्ष सतीश जायसवाल इस दिशा में बेहद समावेशी दृष्टि के साथ नमुदार हैं। - **कामेश्वर पाण्डे**

रंगमंच पर एक सिलसिले के उनतीस क़दम

रवायत का मान और नए की शान

संजय सिंह राठौर

रंगमंचीय रवायतों के आसपास अपनी शक्ल गढ़ता एक जलसा अगर अवाम की ज़रूरत बन जाए तो यकीनन यह ईमानदार कोशिशों का ही नतीजा है। भोपाल की सरज़मीं पर इफ़्तेख़ार स्मृति नाट्य समारोह का गुजिश्ता अठ्ठाईस बरसों से होते रहना इसी भरोसे की मिसाल है। मौसम की दहलीज़ पर दस्तक देती तपिश भरी वैशाख की शामें नाटकों से कुछ ऐसी गुलज़ार हुई कि रंग-रसिकों का रेला खुद-ब-खुद रवीन्द्र भवन में खिंचा चला आया। इस दफा रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्व विद्यालय, टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र, वनमाली सृजन पीठ और अपने दीगर उपक्रमों के साथ सौजन्य-सहयोग लिए इस बड़ी गतिविधि का आधार बना। दिल्ली, मुंबई से लेकर भोपाल के शौकिया नाट्य समूहों ने इस समारोह के लिए कुछ अलहदा और अनूठी पेशकश की पहल की। कहानी, क़िरदार, संवाद, अभिनय और प्रस्तुति के अपने निजी मुहावरों को लेकर दर्शकों के रूबरू रंग समूहों की सामूहिक ऊर्जा ने एक बार फिर यह ऐतबार जताया कि चली आ रही परंपराओं का मान रखते हुए हमारे वक्ती दौर का थिएटर कुछ नया और अनूठा रचने की हुमस से भरा है। और प्रयोगों के साथ नवाचार की गरज के बीच सामाजिक सरोकारों के साथ खड़ा होने की नाटक की बुनियादी प्रतिज्ञा इसी ताप के साथ क़ायम है। बहरहाल 22 से 27 अप्रैल के बीच संपन्न हुआ यह नाट्य समारोह एक बेहतर मकसद की ज़मीन पर अपने गाढ़े-उजले हस्ताक्षर उकेर गया।

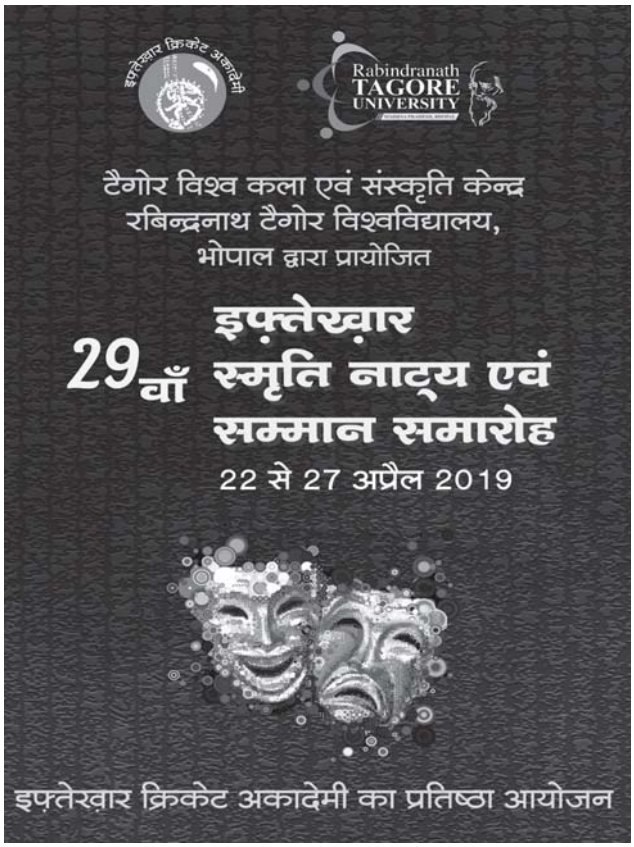

रंग–छवियों से रौशन एक जलसा

दिलचस्प यह है कि अठ्ठाईस बरस पहले इस समारोह की नींव इफ़्तेख़ार क्रिकेट अकादेमी ने रखी। उनतीसवें पादान की ओर कदम बढ़ाते हुए इस समारोह के जूनूनी और जांबाज सूत्रधार हमीदुल्ला खाँ 'मामू' उसी जोश से भरे नमूदार हुए। वे मैदान के खिलाड़ी रहे हैं और कला के मंच पर भी सामूहिक, सौहार्द और आपसदारी का इंसानी ताना–बाना रचने की ख्वाहिशों से लबरेज़ हैं। छः नाटकों का चयन अपने सलाहाकारों के साथ मिलकर उन्होंने कुछ इस तरह कि वे विचार और शैली के लिहाज़ से एक–दूसरे से भिन्न हों और अस्वाद के नए पहलू भी वहाँ नज़र आए।

खट्टे–मीठे अहसासों का 'गुड़म्बा'

22 अप्रैल की शाम इफ़्तेख़ार नाट्य समारोह का आगाज़ कुछ ऐसी रंग–रौशनी से लदकद था कि नाटकों के कद्रदान वक्त से बहुत पहले रवीन्द्र भवन में जमा हो गये। बेशक 'गुड़म्बा' का आकर्षण था और उतना ही इस नाटक की अदाकारा लुबना का भी जिन्हें इस जलसे की पहली शाम हबीब तनवीर स्मृति कला साधना सम्मान से नवाज़ना तयशुदा था। इस कड़ी में जाने–माने कला समीक्षक, संपादक और उद्बोशक विनय उपाध्याय को के.एन. पणिक्कर स्मृति सम्मान से विभूषित किया गया। प्रसिद्ध कथाकार–संस्कृतिकर्मी संतोष चौबे, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली के पूर्व निदेशक डा. देवेन्द्र राज अंकुर, म.प्र. नाट्य विद्यालय के निदेशक आलोक चटर्जी और मशहूर रंगकर्मी–निर्देशक सलीम आरिफ़ ने विनय और लुबना को शॉल, प्रशस्ति और प्रतीक चिन्ह भेंटकर सम्मानित किया।

पहले दिन ज़िंदगी के खट्टे–मीठे रिश्तों को बयाँ करता 'गुड़म्बा' नाटक का मंचन सुप्रसिद्ध अभिनेत्री लुबना सलीम की बेहतरीन अदाकारी में हुआ। एस्से पीपीएल मुंबई की इस शानदार प्रस्तुति का निर्देशन सलीम आरिफ़ ने किया है। लेखक है जावेद सिद्दीकी। नाटक की कहानी मानवीय रिश्तों के खट्टे–मीठे अहसासों को भीतर तक महसूसने और ज़िंदगी को एक बेहतर अंदाज़ में जीने का पैगाम देती है। जितना परिपक्व अभिनय उतना ही सधा हुआ संवाद का कौशल। भरपूर तालियों के बीच राजधानी के दर्शकों ने 'गुड़म्बा' को अपनी दाद दी।

चुहल और शरारत भरी 'रेस्त्राँ में दोपहर'

दूसरी शाम सुप्रसिद्ध कथाकार–संस्कृतिकर्मी संतोष चौबे की बहुचर्चित कहानी 'रेस्त्राँ में दोपहर' का मंचन हुआ। यहाँ कहन का एक खास तरह का अंदाज है, मज़े–मज़े में कहने का अंदाज़, सहज और कुछ–कुछ बेपरवाह सा दिखने का अंदाज़, कुछ चुहल और कुछ शरारतों के साथ। रेस्त्राँ के माध्यम से साहित्य, कला, संस्कृति एवं राजनीति में घटित हो रही हलचल को दिखाते हुए बुद्धिजीवी, साहित्यकारों की भूमिका पर गहरे सवाल खड़े करते इस नाटक ने अपने चुटीले संवादों, चुहल और शरारतों के साथ दर्शकों को गुदगुदाया भी और अंतर्मन में सोचने के लिए प्रेरित भी किया। इस अवसर पर वरिष्ठ अभिनेत्री आभा परमार को ब.व. कारन्त स्मृति कला साधना सम्मान, रंगकर्मी राजकुमार रैकवार को इरफ़ान सौरभ स्मृति रंग गौरव सम्मान एवं रंग निर्देशक संजय गर्ग को अलखनन्द स्मृति रंग गौरव सम्मान से विभूषित किया गया।

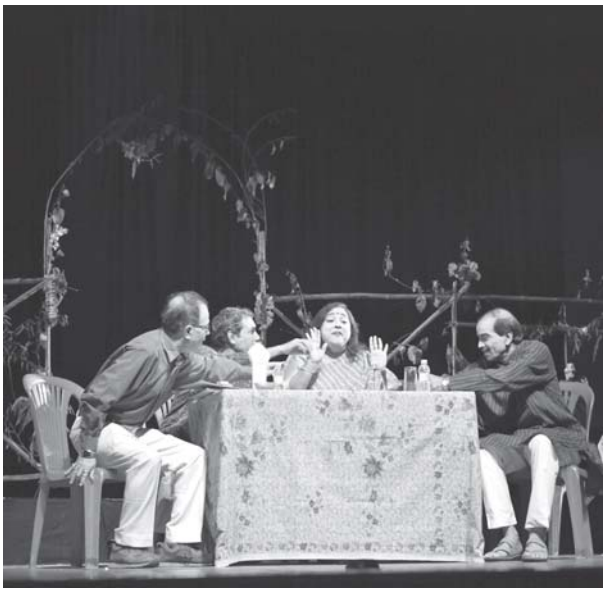

'रेस्त्राँ में दोपहर' का निर्देशन एवं नाट्य रूपांतरण वरिष्ठ रंग-निर्देशक अशोक बुलानी ने किया है। उदय शहाणे, स्वास्तिका चक्रवर्ती, प्रवीण महूवाले, अरविंद बिलगैया, मनुकृति मिश्रा, अभिलाषा कुमार, सरिता खियानी, हमीदुल्ला 'मामू', कमलेश नाथानी, सतीष सक्सेना, उदय नेवालकर, मोहन द्विवेदी, भावना जगवानी, रंजना तिवारी आदि के सजीव अभिनव ने कहानी के पात्रों को मंच पर जीवंत कर दिया।

चाचा छक्कन इन एक्शन

'चाचा छक्कन इन एक्शन' का जुबली मंचन

देश-विदेश में धूम मचाने वाले चर्चित उर्दू नाटक 'चाचा छक्कन इन एक्शन' का शानदार मंचन तीसरी शाम किया गया। लेखिका कुसदिया ज़ैदी द्वारा लिखित यह नाटक 45 साल के चाचा छक्कन उनकी बीवी और दोनों के कई बच्चों के इर्द-गिर्द घूमता हादसों से भरा तंज व मज़ा का नाटक रहा। लखनवीं अंदाज और अलीगढ़ी तालीम के मिले-जुले रंगों से लबरेज नाटक ने दर्शकों को खूब हँसाया भी और दूर तक सोचने का पैगाम भी दिया। पहला मंचन अक्टूबर 2014 में हुआ था और तब से अब तक देश-विदेश में इसके 24 शो सफलतापूर्वक किए जा चुके है।

भोपाल में इसकी शानदार 25वीं सिल्वर जुबली प्रस्तुति दी गई। इस अवसर पर वरिष्ठ रंग निर्देशक डॉ. सईद आलम को टॉम अल्टर स्मृति कला साधना सम्मान एवं युवा कवि एवं रंगकर्मी हेमंत देवलेकर को जावेद ज़ैदी स्मृति कला साधना सम्मान से विभूषित किया गया। इस प्रस्तुति का निर्देशन डॉ. सईद आलम एवं प्रोफेसर दानिश इक़बाल द्वारा किया गया। डॉ. एम सईद आलम, पूनम भूटानी, मनीष सिंह, जसकिरण चोपड़ा, हेमन्त कापासिया, आर्यन प्रताप सिंह, अशरफ़ राहुल, साहिल जैन, हेमन्त सोनी, भूमि निकहत सिराज, गणेश शर्मा एवं अजय शर्मा ने बेहतर टीम वर्क की मिसाल पेश की।

कला साधना सम्मान : अभिनेत्री लुबना सलीम और कला समीक्षक विनय उपाध्याय... मेहमान शख़्सियत देवेन्द्र राज अंकुर, संतोष चौबे और सलीम आरिफ़

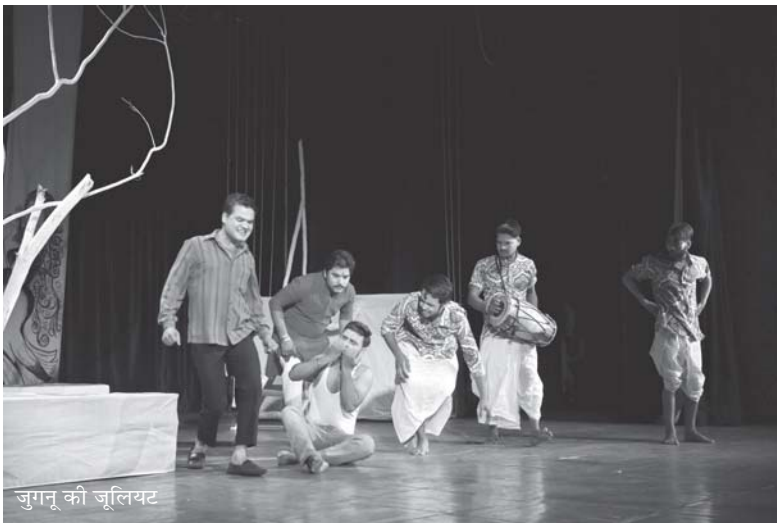

जुगनू की जूलियट

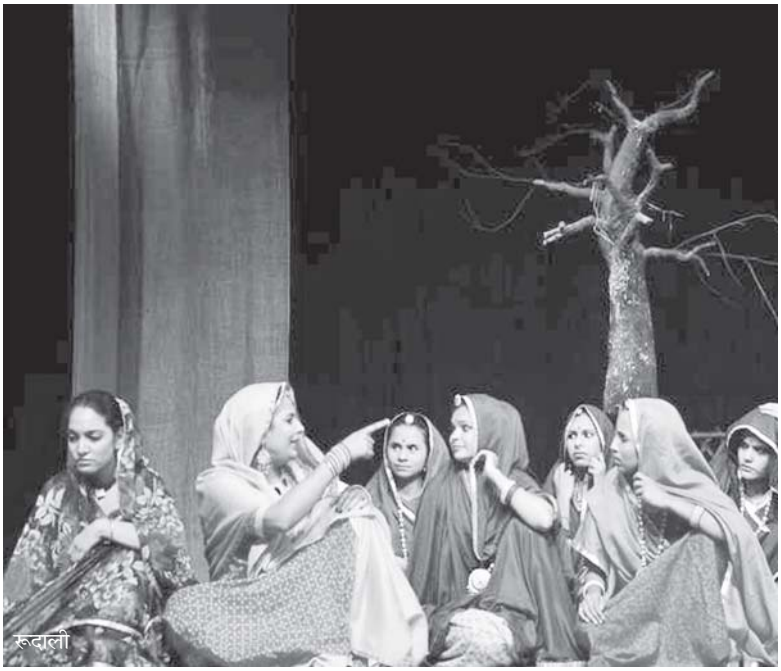

रूदाली

सम्मान : सईद आलम... मेहमान शख़्सियत सिद्धार्थ चतुर्वेदी, बलराम गुमास्ता, महेन्द्र गगन और बेबी मालविका

अलहदा सी आहट

'जुगनू की जूलियट'

चौथी शाम शेक्सपीयर की कालजयी कृति 'रोमियो एण्ड जूलियट' पर आधारित नाटक 'जुगनू की जुलियट' का मंचन हुआ। लेखक बिसना चौहान द्वारा लिखित नाटक समाज की समृद्धि में अवरोधक तमाम सामाजिक बुराईयों, कुरीतियों, अमीर और गरीब तथा छोटी-बड़ी जातियों के बीच की दूरियों, अहम के नाम पर बेवजह की दुश्मनी को मिटाने का एक मात्र रास्ता प्रेम के महकते-दमकते गलियारे से होकर ही गुजरता है। वसीम अली द्वारा निर्देशित इस नाटक को लेकर दर्शकों और आलोचकों में मिली-जुली प्रतिक्रिया रही। कहानी के मुताबिक दृश्य और संवादों को संयम से बरतने की दरकार है। यहाँ निर्देशक और अभिनेताओं की ओर से अभिव्यक्ति की स्वायत्ता को लेकर भी अपने तर्क रहे।

बेमिसाल अदाकारी

'रूदाली'

महाश्वेता देवी द्वारा लिखित 'रूदाली' को देखना दर्शकों के लिए संवेदना के एक नए धरातल पर उतरना था। 'रूदाली' में शनीचरी एक केन्द्रीय पात्र है, जिसकी दशा दयनीय है, जाति से दलित है, पेट भरने की मजबूरी में रूदाली के काम को अपना लेती है। विडम्बना यह है कि जो स्त्री कभी किसी अपने के मरने पर रो ही न सकी, बात जब पेट पर आती है तो आँसू बहाती है। गोया आदमी की संवेदनाएँ हृदय से नहीं, आँतों की कुलबुलाहट से अपनी ऊर्जा पाती हैं। यह नाटक महाश्वेता देवी के बांग्ला उपन्यास पर आधारित है। त्रिकर्षि भोपाल की इस बेमिसाल प्रस्तुति का नाट्य रूपांतरण वरिष्ठ रंगकर्मी उषा गांगुली ने किया है। निर्देशन के.जी. त्रिवेदी द्वारा किया गया। अभिनय के लिहाज से इस नाटक को पूरी भावानात्मक तीव्रता से जीना चुनौती ही है। के.जी. इस लिहाज से बेहतर अभिनेता चुनने में कामयाब रहे। इस नाटक के विभिन्न किरदारों में पूजा मालवीय, सुनीता अहिरे, मंजू मालवीय, काव्य पुरोहित, विनय शुक्ला, अर्चना दुबे, अदा अग्रवाल, अनमोल सोनी, प्रज्ञा चतुर्वेदी, देवेश झा, शिवम गुप्ता, अक्षय पाठक, मोसिम शुक्ला, राखी साहू, श्रद्धा तिवारी, रितु सब्बरवाल, शिवानी कहार, सोनम उपाध्याय, संदीप दाहिया, सिद्धांत दाभाड़े, अश्विन यादव, आशुतोष शर्मा, इमरान खान आदि ने बेहतरीन अदाकारी का परिचय दिया।

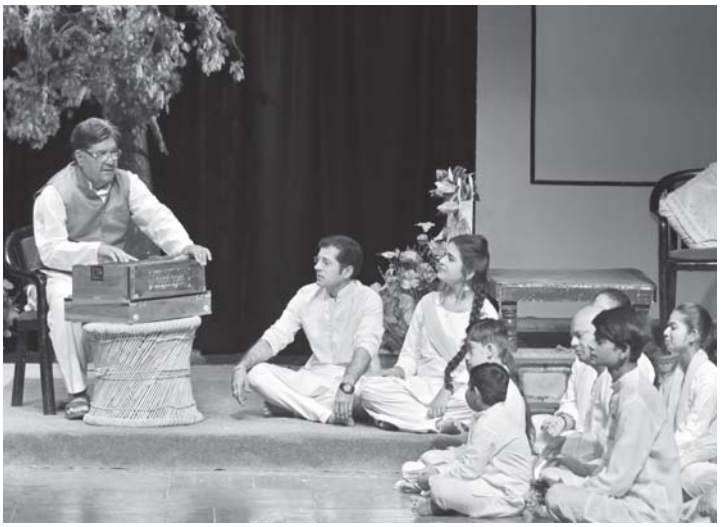

शोर के ख़िलाफ़ प्रेम–संगीत का संदेश 'जलतरंग'

आख़री शाम संतोष चौबे द्वारा लिखित चर्चित कृति 'जलतरंग' का मंचन भी ख़ासा आकर्षण लिए था। यह हिन्दी का पहला ऐसा उपन्यास है, जिसके आख्यान के केन्द्र में भारतीय शास्त्रीय संगीत की पूरी परंपरा अपने अनेक वादी, संवादी और विवादी स्वरों के साथ मौजूद है। संगीत में आये परिवर्तनों और संगीत के नवोन्मेश के बीच आन्तरिक रिश्तों की पड़ताल का नाम है 'जलतरंग'। 'जलतरंग' के अध्यायों का विभाजन– आलाप, जोड़, विलम्बित, द्रूत और झाला में किया गया है। यह विभाजन इसकी संरचना और अध्यायों की गति को भी एक हद तक तय करता है। इन तमाम संदर्भों के चलते इस औपन्यासिक कृति को रंगमंच पर प्रस्तुत करना एक चुनौती ही है। वरिष्ठ पटकथाकार–रंगकर्मी अशोक मिश्र ने इसका नाट्य रूपांतर किया है और उन्हीं के निर्देशन में इसका रंग प्रयोग भी हुआ है। इसका पहला मंचन साल भर पहले भारत भवन में हुआ था जिसका अप्रत्याशित स्वागत दर्शकों और आलोचकों ने किया था।

मंच पर मृदुल त्रिपाठी (देवाशीश), ज्योति दुबे (स्मृति), संतोष कौषिक (अत्रे गुरूजी), अभिलाषा श्रीवास्तव (अत्रे ताई), मोहन सगोरिया (नफीस), प्रशांत सोनी (डाक्टर), विक्रांत भट्ट (डीआईजी, जज, सूरज), मौसमी परिहार (प्रौढ़ स्मृति), प्रेमशरण खेमरिया (प्रौढ़ देवाशीश), सावी भंडारी (शुभांगी), जितेन्द्र अग्रवाल (दुर्गा प्रसाद त्रिपाठी), वैष्णवी गोवांडे (सुगंधा वकील), उमेश तिवारी, गोपाल लेले, योगेश कुमार, वंदना बहल, रजत, उमेश, जे.पी. मिश्रा, आराध्य आदि ने अपने किरदारों के साथ रोचक परिवेश रचते है। प्रकाश परिकल्पना कमल जैन की रही। वीडियो एवं ध्वनि संयोजन प्रशांत सोनी, सौरभ अग्रवाल और रोहित श्रीवास्तव द्वारा किया गया। मंच की भव्य आकर्षक साज–सज्जा नीरज रिछारिया, मनमोहन सोनी, हेमन्त योगी, रजत द्वारा की गई।

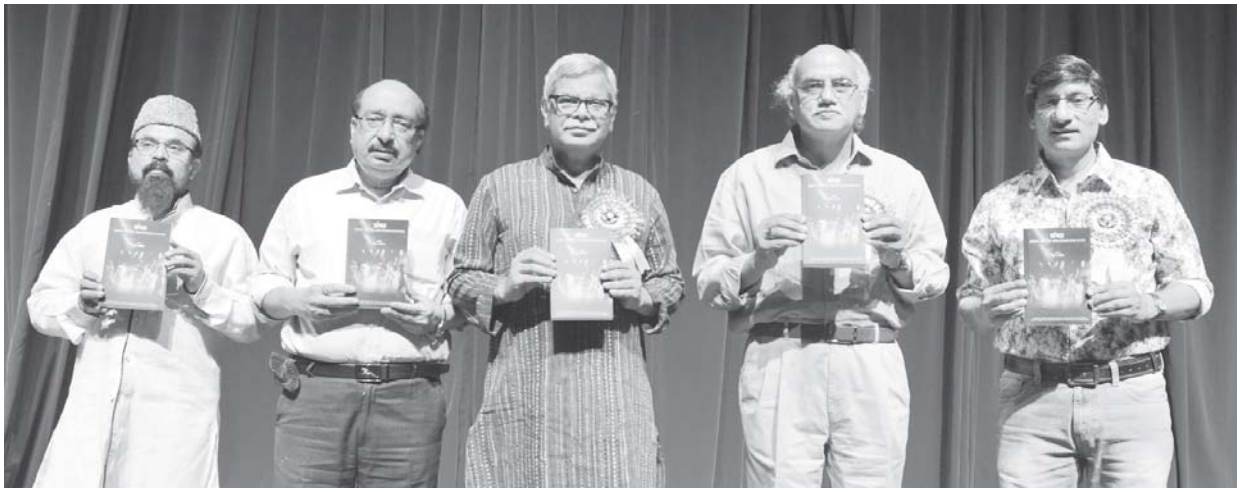

संतोष चौबे के उपन्यास 'जलतरंग' पर आधारित समीक्षा, साक्षात्कार और सुर्खियों पर एकाग्र पुस्तक 'संगत' का लोकार्पण...
चौबे के साथ हैं 'जलतरंग' के नाट्य रूपांतरकार अशोक मिश्र, प्रकाशक महेन्द्र गगन, 'संगत' के संपादक मोहन सगोरिया और विनय उपाध्याय

रंग वार्ता : नगीन तनवीर

सम्मान : .... मेहमान शख़्सियत नुसरत मेहंदी, पुष्पा असिवाल और अदिती वत्स

सम्मान : मेहमान शख़्सियत मुकेश वर्मा, अमिताभ सक्सेना, अशोक बुलानी और कमल जैन

सम्मान : हर्ष दौण्ड तथा महुआ चटर्जी.. मेहमान शख़्सियत डॉ. ए.के. ग्वाल, डॉ. विजय सिंह और के.जी. त्रिवेदी

सिर्फ़ गाना-बजाना रंग संगीत नहीं है

इफ़तेख़ार स्मृति नाट्य समारोह के तहत 25 अप्रैल को स्वराज भवन सभागार में ''नाट्य गीतों की परंपरा: रचना और प्रयोग'' विषय पर संतोष चौबे की अध्यक्षता में 'रंग वार्ता' का आयोजन किया गया। वार्ता में मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय के निदेशक आलोक चटर्जी, नया थियेटर की निर्देशक नगीन तनवीर, कला समीक्षक विनय उपाध्याय एवं युवा रंगकर्मी हेमंत देवलेकर ने बतौर वक्ता शिरकत की। संचालन युवा रंगकर्मी एवं लेखक सुदीप सोहनी ने किया।

संतोष चौबे ने कहा कि नाट्य संगीत एक सामूहिक प्रक्रिया है। यह नाटक को गति प्रदान करता है और नाटक के लिए समझ को विकसित करता है। नाट्य संगीत की अपनी लय होती है। नाट्य संगीत का उपयोग नाटक के डेकोरेशन के लिए नहीं किया जाना चाहिये। नाट्य संगीत हमारे परंपरागत लोक में निवास करता है।

आलोक चटर्जी ने अनेक नाटकों के रंग संगीत का उदाहरण देते हुए कहा कि सिर्फ गाना बजाना नाट्य संगीत नहीं है। नाटक को नये ढ़ंग से परिभाषित करने के लिए नाट्य गीतों का प्रयोग होता है। इसके लिए अपरंपरागत चीज़ों से भी रंग संगीत का निर्माण किया जा सकता है। चरित्र की मनोस्थिति प्रकट करने के लिए नाट्य गीतों का प्रयोग होता है।

नगीन तनवीर ने अपने वक्तव्य में कुछ पुरानी स्मृतियाँ साझा कीं। उन्होंने अपने पिता मशहूर रंगकर्मी हबीब तनवीर के प्रयोगों का हवाला दिया और कुछ रंग संगीत गाया थी। जब उन्होंने हबीब तनवीर के लिखे गीत 'थोड़ी काठी उठाके देख आकाष का रंग है नीला' और 'रंगरसिया मन ले के जावे' 'ससुराल', 'चोर चरणदास कहलाया सच बोल के' को प्रस्तुत किया तो दर्शकों ने करतल ध्वनि से इन गीतों का स्वागत किया।

विनय उपाध्याय ने कहा कि नाटक मनुष्य की पक्षधरता की बात करता है, इसमें गीत संगीत भी गहरे तक रचा बसा होता है। नाटक की कहानी और गतिशीलता को बनाये रखने के लिए गीत संगीत एक महत्वपूर्ण पहलू होता है। लोक संगीत की परंपरा हमें हमेशा नई दिशा में सोचने का अवसर प्रदान करती है।

हेंमत देवलेकर ने कहा कि गीत नाटक का प्राण होते हैं। गीत नाटक को गति प्रदान करने के साथ साथ आंदोलित करने का काम भी करते है। नाटक में गीत संगीत की कहां अवाश्यक्ता है इसे तलाशना विवेकशील निर्देशक का महत्वपूर्ण कौशल होता है। इस अवसर पर बड़ी सख्या में युवा रंगकर्मी लेखक और रंगदर्शक मौजूद रहे।

गुज़िश्ता दौर की यादें और 'बिंब–प्रतिबिंब'

रंग–रौशनी से सराबोर रवीन्द्र भवन के बहिरंग में टैगोर कला केन्द्र द्वारा लगाई गई प्रदर्शनी 'बिम्ब–प्रतिबिंब' रंग प्रेमी दर्शकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गई। रंगकर्मी नीरज रिछारिया ने रंगमंचीय गतिविधियों के छाया चित्रों को बहुत ही करीने से संजोया। इन छाया–छवियों में गुलज़ार, हबीब तनवीर, जया बच्चन, शर्मिला टैगोर, नादिरा बब्बर, उषा गांगुली, गोविन्द नामदेव, राजेन्द्र गुप्ता, नीना गुप्ता, एम.के. रैना, सलीम आरिफ़, जयंत देशमुख जैसी नामचीन शख्सियतों की आहटों से वाबस्ता होना एक दिलचस्प अनुभव रहा। यह नुमाईश राजधानी के सांस्कृतिक सौहार्द और समृद्धि की मिसाल भी बनी।

पूर्वरंग में गूँजा 'रंग संगीत'

इफ़्तेख़ार नाट्य समारोह के चले आ रहे सिलसिले में इस बार दो महत्वपूर्ण आयाम जुड़े। एक 'पूर्वरंग' में रंग संगीत का और दूसरा 'रंगवार्ता' की वैचारिकी का। समारोह के मुख्य मंच पर नाटक शुरू होने से पहले अलग–अलग दिनों में विहान ड्रामा वर्क्स ने हेमंत देवलेकर के संयोजन में लिखे और स्वर बद्ध किये नाट्य गीतों को प्रस्तुत किया, वहीं वरिष्ठ रंगकर्मी राजीव सिंह, सागर गुंचा कला समूह के साथ हबीब तनवीर, ब.व. कारंत के नाटकों में इस्तेमाल गीत–संगीत लिए दर्शकों से मुख़ातिब हुए। विहान के पास स्वयं के नाटकों का वो संगीत है जिनकी अलमस्त धुनों पर थिरकते किशोर–युवा कलाकारों का समूह सहज ही दर्शकों को सम्मोहित कर लेता है। राजीव नाट्य परंपरा की गौरवशाली विरासत से जुड़े और प्रशिक्षित रंगकर्मी है। लंबे अभ्यास, समझ और परिश्रम से उन्होंने नाट्य संगीत को अपने लिए जिया और सहेजा है। 'पूर्वरंग' की इन बंदिशों को सुनकर दर्षकों के जेहन में संबंधित नाटक के दृश्य और पात्रों की स्मृतियाँ कौंध उठीं।

दिवंगत रंगकर्मियों की याद में स्थापित विभिन्न सम्मानों से विभूषित रंग विशेषज्ञों और कलाकारों की प्रशस्तियों का पाठ आकाशवाणी की वरिष्ठ उद्घोषक सुनीता सिंह, मीडियाकर्मी शिफाली पाण्डे और रंगमंच की सुपरिचित अभिनेत्री स्वास्तिका चक्रवर्ती ने किया। नाट्य सभाओं का संचालन उद्घोषक बद्र वास्ती और विनय उपाध्याय ने किया।

नाट्य समारोह में प्रेक्षक

रजत रंग

हुनर और हौसले का 'कारवाँ'

विवेक मृदुल

नज़ीर क़ुरैशी के कुम्हलाए शरीर और थके चेहरे से उनकी लंबी कष्टकारी बीमारी के दुर्दमनीय स्मृति चिन्हों को एक ही टक में ताड़ा जा सकता है। उन्होंने न केवल छह माह काल का ग्रास बनाने को आमादा, दुष्ट बीमारी को ही अपनी अपार जिजिविषा के बल पर खिसियाकर लौटने को विवश किया है, बल्कि अपनी संस्था के पच्चीस साल पूरे होने का जश्न भी 'वन मेन आर्मी' की तरह तीन दिवसीय रजत पर्व भी भव्यता से मनाया। उनके अपार हौसले से ही कारवाँ के समर्पित युवा-अधेड़ कलाकारों की एक संगठित फौज पलक झपकते ही खड़ी हो सकी। नाट्य प्रस्तुतियों, एक शानदार 'छायाचित्र प्रदर्शनी' और पच्चीस साल के सफर में अलग-अगल मुकाम पर जुड़ने वाले कलाकारों को नवाज़ने जैसे कितने ही महत्वपूर्ण कार्य इस समारोह के आयाम बने।

सितंबर-अक्टूबर की दरमियानी शामें इस तीन दिवसीय नाट्य समारोह के अंतर्गत शहीद भवन में जिन तीन नाटकों का मंचन हुआ, वे थे- 'बंदिनी', 'डंक' और 'आषाढ़ का एक दिन'। 'बंदिनी' का निर्देशन समूह के ही वरिष्ठ सदस्य और रंगकर्मी उबेदुल्लाह खान ने किया। शेष दोनों नाटकों का निर्देशकीय दारोमदार नज़ीर पर था। कथानक, कलेवर और शैली के लिहाज़ से तीनों ही नाटक एकदम भिन्न आस्वाद के थे, जिसकी वजह से दर्शकों में इनके प्रति लगातार कौतुहल बना रहा और 'क्लासिक' तथा 'सम सामयिक' दोनों तरह के नाटक देखने हर शाम सभागार ख़चाख़च भरा रहा। इस दौरान अनेक हृदयस्पर्शी प्रसंग भी सामने आये। वो रंगकर्मी साथी भी मंच और नेपथ्य में गले मिल लिपटे-भावुक हुए जो रंगमंच से किन्हीं कारणों से दूर चले गए और उन प्यारे कलाकारों की याद भी भाषणों और उद्बोधनों में रूँधी आवाज़ बनकर उभरी जो हमेशा के लिए इस दुनिया से रुख़सत हो गए। दादा यदुराज सिंह, सावित्री रायकवार 'जिज्जी', जावेद ज़ैदी, पुष्पनीर जैन, रिज़वान खान, संजय भोस्कर, आनंदिता बिसारिया और चंदू श्रीवास्तव जैसे कितने ही कलाकारों के अमूल्य योगदान को सराहते हुए उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गई। विगत नाटकों में काम करने वाले कलाकारों के छायाचित्रों की सुंदर प्रदर्शनी का आयोजन शहर के विख्यात छायाकार विजय रोहतगी के मार्गदर्शन में किया गया जिसे प्रेम सावलानी और शकील चाँद के बैकड्राप संयोजन ने कलात्मक ऊँचाई दी थी। उन फ़ोटोज़ में दिवंगत कलाकारों के साथ विभिन्न क़िरदारों में खुद को तो कभी अपने साथी को निहारते सब के सब बिल्कुल शालेय दिनों के चंचल दौर में विचरते रहे। भारत भवन के अनेक कलाकार भी कभी 'कारवाँ' का हिस्सा रहे हैं। इनमें जयंत देशमुख, रंजना, मांगीलाल शर्मा, जुल्फिकार अली, अनूप जोशी 'बंटी' जैसे आज के दैदीप्यमान सितारा नाम भी थे। इस बीच 'कारवाँ' की वेबसाईट का औपचारिक उद्घाटन भी संपन्न हुआ।

नज़ीर के पास नाटकों का चयन करने की अपनी परिपक्व दृष्टि है। मगर उनके लिए कोई भी 'जॉनर' या परिवेश अमित्र अथवा अस्पृश्य कभी नहीं रहा है।

मिथक बने और टूटे भी 'कारवाँ' और नज़ीर क़ुरैशी की रंगयात्रा को याद करूं तो ढाई दशकों का सफर किसी

चलचित्र की तरह मानस पटल पर उभरने लगता है। अपनी यादों में सर्वप्रथम 1990 में संस्था के लिए प्रभाकर लक्ष्मण मयेकर का बहुचर्चित नाटक ''अथ मनुस जगन हा' तैयार कराते भोपाल के शौकिया रंगमंच के भीष्म पितामह स्व. दादा यदुराज सिंह 'हमें' निर्देशक के रूप में दिखाई देते हैं। इस 'हमें' में नज़ीर कुरैशी, मक़सूद रज़ा खान, वसीम खान, ज्योति सावरीकर, राकेश सेठी, सावित्री रायकवार उर्फ'जिज्जी' और मैं, ये सब शामिल थे। फिर नज़ीर कुरैशी एक-दो वर्ष बाद निर्देशन की बागडोर संभाले मैदान में उतरते हैं और माधवी, मुआवज़े, कबीरा खड़ा बाजार में, आलमगीर, जैसे कितने ही नायाब नाटकों के सफल मंचनों का कभी न ख़त्म होने वाल सिलसिला शुरू हो जाता है।

नज़ीर के पास नाटकों का चयन करने की अपनी परिपक्व दृष्टि है। मगर उनके लिए कोई भी 'जॉनर' या परिवेश अमित्र अथवा अस्पृश्य कभी नहीं रहा है। उनके निर्देशन में संस्था ने रज़िया सुल्तान, अज़ीजुन, रंग दे बसंती चोला और तुग़लक जैसे नाटक खेले और दूसरी ओर दुहाई लुकमान, पोस्टर, बिच्छू जैसे नाटकों का भी सफल मंचन किया। बीच में कतिपय छिद्रांन्वेशी तत्वों ने इस बात का बाकायदा प्रचार शुरू कर दिया था कि नज़ीर भाई तो बस मुस्लिम परिवेष के ऐतिहासिक नाटक ही खेलते रहते हैं। लेकिन नज़ीर कुरैशी ने बड़ी ख़मोशी से उसका जवाब मत्स्यगंधा, अग्निबरखां, जन्मेजय का नागयज्ञ और आषाढ़ का एक दिन जैसे पौराणिक संदर्भों के बहुचर्चित नाटकों से दिया। बसंत कानेटकर लिखित और भानुमति सिंह अनुदित 'मत्स्यगंधा' नाटक के लिए कारवाँ को 2012-13 में सर्वश्रेष्ठ नाटक का खिताब भीलवाड़ा नाट्य समारोह में मिला है। कारवाँ ने भोपाल के अलावा राजस्थान, दिल्ली और मुंबई के प्रतिष्ठित मंचों पर भी इस नाटक के बेहतरीन प्रदर्षन किए हैं, जिनमें एक में संस्था को दो लाख-रूपए का भीलवाड़ा सर्वश्रेष्ठ नाट्य सम्मान प्रदान करने स्वयं राजनेता लालकृष्ण आडवाणी भी उपस्थित हुए।

विचार और शैली का अनूठापन यथार्थवादी नाटकों की भी लंबी श्रृंखला कारवाँ में नजर आती है। इसमें 'ए डाल्स हाऊस', सादर आपका, बलि का बकरा हानूष, पोस्टर, डंक आदि प्रमुख हैं। हाल में ब्रजेश अनय की पटकथा पर मुक्तिबोध की रचनाओं की कोलाज प्रस्तुति 'हम ज़िंदा है' का मंचन भी नज़ीर कुरैशी के कल्पनाशील निर्देशन के एक अहम पड़ाव के रूप में याद रखा जा सकेगा। चूंकि नज़ीर मूलत: कामरेड और विगत वर्ष सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया से सेवानिवृत्त होने तक राष्ट्रीय स्तर के खाँटी यूनियन लीडर रहे हैं। अत: उनके सभी नाटकों में वैचारिकता को हमेशा अग्रिम स्थान मिला है। सिर्फ मनोरंजन के लिए या सस्ते हास्य को भुनाने की गरज़ से उन्होंने कभी कुछ नहीं सिरजा है। यही वजह रही होगी कि नज़ीर कुरैशी मुख्यधारा के लोकप्रिय रंगमंच में प्रवाह से कुछ हटकर खड़े दिखाई देते हैं। प्रख्यात उपन्यासकार, अभिनेता और नाटककार भीष्म साहनी के लेखन से अपने निजी जुड़ाव के कारण नज़ीर भाई ने भीष्म साहनी के लगभग सभी नाटकों का मंचन किया है और साहित्य जगत में भी अपनी एक अलहदा पहचान बनाई है। वे रेडियो के वरिष्ठ कलाकार, उद्बोशक और एक अच्छे पटकथाकार के रूप में भी छोटे और बड़े परदे पर सतत सक्रिय हैं। रजत पर्व के सफल आयोजन के बाद उनकी हौसलों से भरी सृजनयात्रा और हुनरमंद कलाकारों से सजी 'कारवाँ' संस्था का कारवाँ यूँ ही अविरत रहे...।

'समिति शताब्दी सम्मान' बलराम और अग्निहोत्री को

श्री मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति की स्थापना के सौ वर्ष पूर्ण होने पर लिए गए निर्णयानुसार प्रतिवर्ष हिन्दी साहित्य के दो लेखकों को उनके संपूर्ण साहित्यिक अवदान के लिए सम्मानित किया जाएगा। वर्ष 2018 के 'समिति शताब्दी सम्मान' से सम्मानित होने वाले साहित्यकारों में राष्ट्रीय 'समिति शताब्दी सम्मान' वरिष्ठ कथाकार ओर संपादक बलराम (दिल्ली) को तथा प्रादेशिक 'समिति शताब्दी सम्मान' प्रतिष्ठित कथाकार एवं स्त्री-विमर्श अध्येता डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री (इंदौर) को दिया जाएगा।

इसके पूर्व डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित, डॉ. रामदश मिश्र, डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य, डॉ. विजयबहादुर सिंह, डॉ. कमलकिषोर गोयनका, प्रो. रमेशचन्द्र शाह, प्रो. रमेश दवे, श्रीमती ज्योत्सना मिलन, डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी, डॉ. श्यामसुंदर दुबे, डॉ. जयकुमार जलज, डॉ. शिवनारायण को 'समिति शताब्दी सम्मान' से विभूषित किया जा चुका है।

उदयपुर में कुम्भा संगीत महोत्सव

राजस्थान दिवस के अवसर पर उदयपुर के शिल्पग्राम में 57वाँ महाराणा कुम्भा संगीत समारोह सम्पन्न हुआ। 29 से 31 मार्च तक चले तीन दिवसीय इस कार्यक्रम का समापन जयपुर घराने की सुविख्यात नृत्यांगना कथक रत्न शाम्भवी शुक्ला मिश्रा एवं समूह के शानदार कथक नृत्य प्रदर्शन से हुआ। शाम्भवी शुक्ला ने अपने समूह नृत्य का शुभारंभ प्रभावपूर्ण शिव स्तुति से किया, जिसमें समुद्र मंथन गाथा एवं महादेव के विभिन्न स्वरूपों के भावपूर्ण नृत्य संयोजन से उन्होंने दर्शकों को रोमांचित किया। आपके एकल नृत्य में थाट की विलुप्त होती बारीकियों सहित इत्मिनान व ठहराव के साथ स्वनिर्मित बंदिशों में एवं चक्करों के विविध प्रकारों में नृत्योचित अनिवार्य स्फूर्ति एवं चपलता का अद्भुत सम्मिश्रण प्रदर्शित हुआ। क्लिष्ट लयकारी युक्त बंदिशों को विद्वानों ने सराहा। सुन्दर संगीत संयोजन गजल गायक एवं संगीतकार श्री बृजेश मिश्र द्वारा किया गया। राधा कृष्ण के सुन्दर वर्णन एवं पारंपरिक होली के समूह नृत्य ने समाँ बांध दर्शकों को भावविभोर किया। समारोह में पधारे विश्वविख्यात गायक द्वय पं. राजन साजन मिश्र का सुमधुर व प्रभावपूर्ण गायन, पं. रोनू मजूमदार की सुरीली बाँसुरी, वाणी माधव के ओडीसी समूह नृत्य, उस्ताद असगर हुसैन का वायलिन वादन एवं सुश्री संगीता बंदोपाध्याय के शास्त्रीय गायन ने समारोह की प्रतिष्ठा प्रदान की।

साहित्य का काम संस्कारित करना है : वजाहत

दिल्ली में वनमाली सृजन पीठ और ज्ञान पीठ का साझा आयोजन

वनमाली सृजन पीठ की नई दिल्ली में नवगठित इकाई और भारतीय ज्ञानपीठ की संयुक्त सांस्कृतिक यात्रा की शुरूआत 24 अप्रैल को इंडिया हैबिटेटसेंटर के गुलमोहर सभागार में हुई। बहुचर्चित कथाकार असग़र वजाहत से युवा आलोचक पल्लव ने संवाद किया और इस तरह एक कथाकार अपनी स्मृतियों और लेखकीय सरोकारों के साथ बहुत खुलकर पेश आया। बेहद अनौपचारिक और जरूरी सवाल पूछते हुए पल्लव ने कहा कि असग़र वजाहत अज्ञेय के बाद दूसरे ऐसे हिन्दी लेखक हैं, जिन्होंने जो भी लिखा, जिस भी विधा में लिखा, समान मेधा शक्ति का परिचय दिया। कहानी, उपन्यास, नाटक, यात्रा वृतांत, फिल्म लेखन हर क्षेत्र में वे अव्वल रहे। पल्लव ने असगर जी के चित्रकला प्रेम का भी श्रोताओं से परिचय करवाया। सृजन पीठ नई दिल्ली के अध्यक्ष लीलाधर मंडलोई और भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक मधुसूदन आनंद ने अतिथियों और श्रोताओं का स्वागत किया।

संवाद : अजग़र वजाहत और पल्लव

असग़र वजाहत ने पल्लव के सवालों का जवाब देते हुए कहा कि राजनीति और साहित्य के रिश्ते नाज़ुक और संश्लिष्ट है। कला और विचारधारा तथा राजनीति का संबंध, दाल में नमक की तरह होना चाहिए। साहित्य का काम संस्कारित करना है। यह काम कलाएं भी करती हैं। साहित्य दीर्घावधि का काम है। गुटबंदी से कुछ नहीं होता। साहित्य असहमति, प्रतिरोध, और हस्तक्षेप का काम करता है। आपातकाल के दौरान जब खुलकर नहीं कहा जा सकता था तब प्रतीकात्मक कहानियाँ लिखी गईं थीं। असगर ने कहा कि आज का माहौल तब के माहौल से अधिक डरावना है। उस समय मुक़द्दमा चलता था, थोड़े दिन की सज़ा हुई और छूट जाते थे। आज तुरंत फैसला होता है और सज़ा होती है। लेखकों और कलाकारों की हत्या इसका उदाहरण है। अन्य विधाओं में जाने की बात करते हुए, असगर जी ने कहा कि जब लगता है कि जो कहा जाना है वह, जिस विधा में लिखते रहे हैं उसमें नहीं हो सकता तो दूसरी विधा में जाना पड़ता है। कई विधाओं में लिखना आयाम के विस्तार के कारण होता है।'सात आसमान'उपन्यास पहले उपन्यास शैली में लिखा था, बाद में शैली में बदलाव किया और वह चर्चित हो गया। जैसे अब कहानी उबाऊ हो रही है। कहानी के फार्मेट में लिखना अब मुश्किल है। अपनी कुछ कृतियों का असगर ने परिचय भी दिया। 'स्वर्ग में पाँच दिन' यात्रा -वृतांत के बारे में बताते हुए कहा कि स्वर्ग (विदेश) में बिताए पाँच साल, पुस्तक में पाँच दिन माने गए हैं। वहाँ जाकर कुछ ऐसे अनुभव हुए कि मुझे लगा मुझे इन अनुभवों को अपने मित्रों से साझा करना चाहिए। किताब में अलिखित नियम है। इतिहास, समाज, परिवार के बारे में नयी जानकारी है। 'बाकरगंज के सैयद' किताब अलक्षित इतिहास के बारे में है।

असगर ने इस अवसर पर अपनी कई छोटी-छोटी प्रतीकात्मक कहानियों का पाठ भी किया। बाद में बात-चीत सीधे पाठकों से हुई। राजीव शुक्ल के अलावा कई पाठकों ने उनके साहित्य के संबंध में सीधे सवाल किए। कुल मिलाकर यह एक सार्थक शाम थी।

विदिशा में 'साकिबा' की दोस्ताना बैठक

सोशल मीडिया का एक सकारात्मक पहलू यह भी हो सकता है कि जिन लोगों को कभी देखा नहीं,जिनसे कभी मिले नहीं, वो जब आमने-सामने हो जायें, और ऐसे मिलें जैसे बरसों की पहचान हो तो आश्चर्य तो होता ही है. कुछ ऐसा ही मंजर सामने आया जब आभासी दुनिया के कलाकारों के आने पर विदिशा के मित्र अपने घरों में आत्मीयता से स्वागत करते रहे। साकीबा सम्मेलन का आयोजन किया था। हमारे नगर के चर्चित युवा कवि और वाटस एप समूह साहित्य की बात समूह के संचालक ब्रज श्रीवास्तव ने विदिशा के साथी साहित्यकारों, दिनेश मिश्र, सुदिन श्रीवास्तव, अविनाश तिवारी, वनिता वाजपेयी, राजेंद्र श्रीवास्तव, उपेन्द्र कालुस्कर, जीवन रजक आदि मित्रों के सहयोग से यह आत्मीय परिवेश संबोधि होटल में जुटाया। संयोजक थे संजीव जैन। इस मौके पर शरद कोकास (दुर्ग) देवीलाल पाटीदार, (भोपाल) अलकनंदा साने (इंदौर) रवीन्द्र प्रजापति मणिमोहन मेहता, डा. पदमा शर्मा (शिवपुरी), चंद्रशेखर श्रीवास्तव, मोहन नागर, दुष्यंत तिवारी (मुंबई), प्रवेश सोनी (कोटा), हरिओम राजौरिया (अशोकनगर), सईद अयूब (अमेरीकन इंस्टीट्यूट नई दिल्ली), अनिल करमेले (भोपाल), मीना शर्मा (दुर्ग), सुधीर देशपांडे,(खंडवा) सहित 50 साहित्यकार सम्मिलित हुए। आरंभ में सुदिन श्रीवास्तव के निर्देशन में कुछ प्रतिष्ठा, ममता, उदित, वैशाली ने सांगीतिक प्रस्तुति दी। इस सम्मेलन में जीवन रजक के कविता संग्रह 'अहसास' का लोकार्पण हुआ। साहित्य के परिदृश्य पर विमर्श भी हुआ, जिसमें समकालीन चिंताओं के साथ रचनात्मकता की जरूरत पर जोर दिया गया। तत्पश्चात सभी सदस्य सांची के स्तूप के भ्रमण पर गये। कार्यक्रम का संचालन कवि मणिमोहन मेहता और ब्रज श्रीवास्तव ने किया।

छलक उठे लोकरंग !

सीवी रामन विश्वविद्यालय (बिलासपुर) में लोकोत्सव

प्रकृति और संस्कृति को अपने दामन में थामती कलाओं का यह सुहाना मंज़र था जो ढलती हुई शाम के आँचल में नए नूर टाँक रहा था। बिलासपुर (छत्तीसगढ़) से सटे करगी-कोटा स्थित सी.वी. रामन विश्वविद्यालय का यह नज़ारा लोक कला महोत्सव की शक्ल गढ़ता मटियारे गीतों, थिरकते नृत्यों और रंग-रूपों में ढले शिल्पों की सौगात बना। यहाँ पंडवानी का ओज था, पंथी-गेंडी और करमा का लालित्य था तो इंसानियत को पुकारती कबीर की आध्यात्मिक पुकार भी थी।

पंडवानी की पर्याय तीजन बाई ने एक अप्रैल की शाम इस तीन दिवसीय लोकरंगी उत्सव का शुभारंभ किया। इस मौके पर रामन विश्वविद्यालय ने वनमाली सृजन पीठ द्वारा स्थापित स्व. शारदा चौबे स्मृति राष्ट्रीय लोक सम्मान से उन्हें विभूषित किया। विवि के कुलाधिपति और सृजन पीठ के अध्यक्ष संतोष चौबे तथा कुलपति प्रो. आर.पी. दुबे ने तीजन बाई को शॉल, श्रीफल प्रतीक चिन्ह और मानद राशि भेंट कर सम्मानित किया। सम्मान के बाद तीजनबाई ने पंडवानी के महाभारत के प्रसंग की प्रस्तुति दी।

महोत्सव के प्रति अपनी शुभाकांक्षा व्यक्त करते हुए संतोष चौबे ने कहा कि भारतीय शिक्षा के आदर्श मूल्यों में लोक संस्कृति का गहरा महत्व रहा है। यह गतिविधि नई पीढ़ी को संस्कारित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण पहल साबित होगी। उन्होंने रामन विश्वविद्यालय में छत्तीसगढ़ी भाषा और संस्कृति केन्द्र स्थापित करने की घोषणा भी की। कुलपति प्रो. दुबे ने कहा कि आने वाले वर्षों में यह लोकोत्सव बहुआयामी और भव्य स्वरूप ग्रहण करेगा। इस समागम के मुख्य समन्वयक कुलसचिव गौरव शुक्ला के अनुसार पहली ही पादान पर यह समारोह छात्र-छात्राओं और शहर के कलाप्रेमियों के बीच कौतुहल और रोमांच समेट लाया है।

आईसेक्ट के निदेशक नितिन वत्स के साथ ही बतौर अतिथि-पर्यवेक्षक शरीक हुए कथाकार सतीष जायसवाल, मुकेश वर्मा, कवि बलराम गुमास्ता, टैगोर विश्व कला एवम् संस्कृति केन्द्र के निदेशक विनय उपाध्याय ने अपनी प्रतिक्रियाओं में छत्तीसगढ़ की महान सांस्कृतिक विरासत को रेखांकित करते हुए रामन विश्वविद्यालय की अनूठी परिकल्पना को एक नए अध्याय की शुरूआत बताया। शिक्षा के परिसर में लोक कलाओं का उत्सव आधुनिकता के तमाम आग्रहों और चुनौतियों के समक्ष एक सशक्त विकल्प है। बहरहाल तीन दिनों की गतिविधियों के आसपास दर्शकों की ख़ासी रेलमपेल रही। मंच पर हो रही लोक संगीत नृत्य की प्रस्तुतियों से लेकर शिल्प कलाओं और पारंपरिक व्यंजनों तक स्वाभाविक आकर्षण दिखाई दिया। युवा संगीतकारों के बैंड 'कबीर कैफ़े' ने अपनी अनूठी शैली में कबीर के पद्रों को गुनगुनाते हुए माहौल को नई रंगत से भर दिया। छत्तीसगढ़ के जनप्रतिनिधियों की आमद और उनके उद्गारों ने भी उत्सव की सार्थकता पर मोहर लगाई। इस क्रम में नवनिर्वाचित विधायक और सी.वी. रामन वि.वि. के पूर्व कुलसचिव शैलेष पाण्डेय, कृष्णमूर्ति बांधी, धर्मजीत सिंह सहित अन्य जनसेवकों और शिक्षा, संस्कृति, समाज तथा प्रशसन से जुड़ी शख़्सियतों की उपस्थितउल्लेखनीय रही। निश्चय ही इस लोकोत्सव से जुड़े रचनात्मक आयामों ने अध्ययन, शोध और प्रदर्शन को लेकर नई संभावनाएं जगाई है।

पंडवानी गायिका तीजन बाई स्व. शारदा चौबे स्मृति लोक सम्मान से विभूषित

कौतुक की लघुकथाओं पर फिल्में

साहित्यकार सदाशिव कौतुक की दो लघुकथाओं 'परिंदे' और 'चल जमूरे' पर बनी शार्ट फिल्में इंदौर के जाल सभागार में प्रदर्शित की गई। राजेश के राठी (मुंबई) के निर्देशन में इन दोनों फिल्मों का निर्माण हुआ है। ये फिल्में समाज में मर रही संवेदनाओं और उदासीनताओं पर तंज करती है। साहित्यकार राकेश शर्मा ने कौतुक के व्यक्तित्व और कृतित्व पर सारगर्भित वक्तव्य दिया। समाजसेवी आनन्द मोहन माथुर ने अध्यक्षीय उद्बोधन दिया। संचालन प्रभु त्रिवेदी ने, परिचय प्रदीप नवीन ने एवं आभार सचिव संतोष मोहन्ती ने व्यक्त किया। कार्यक्रम का संयोजन म.प्र. लेखक संघ ने किया।

'मंथन' का विमोचन

अपने भीतर चलने वाली उथल-पुथल और मानवीय संवेदनाओं की सहज, ईमानदार और परिपक्व अभिव्यक्ति है अशेष का कविता संग्रह 'मंथन'। साहित्यकार जगदीश किंजल्क और मरहूम शायर दुष्यंत कुमार की पत्नी राजेश्वरी त्यागी ने मिलकर 'मंथन' का विमोचन किया। अशेष श्रीवास्तव इस काव्य संग्रह के रचनाकार है। अशेष ने साफगोई से कहा कि मैं कोई साहित्यकार या सीजण्ड लेखक नहीं हूँ जो लिखा, अकस्मात लिखा। घनश्याम मैथिल 'अमृत' ने अपनी समीक्षा में कहा कि इस संग्रह की हर कविता में जीवन से जुड़ा कोई संदेश है। कार्यक्रम का संचालन सुनील शुक्ल ने किया।

कविता और संगीत

पंडित गंगा प्रसाद पाठक ललित कला न्यास विदिशा के सांस्कृतिक सिलसिले की कड़ी में इस बार साहित्य और संगीत के मेलजोल की मिसाल देखने मिली। युवा संगीतकार आशुतोष पाठक ने शहर के दस कवियों की कविताओं को कुछ इस तरह चुना और उन्हें मुकम्मल सी धुनों में पिरोया कि शब्द, स्वर और संगीत में अहसास जी उठे। कविताएँ सुरेन्द्र श्रीवास्तव, आनंद श्रीवास्तव, ब्रज श्रीवास्तव, उदय ढोली आदि की थी। इस प्रकल्प में उन्होंने विदिशा के ही गायकों को साथ लिया और उन्हें अलहदा पेशकश के लिए तैयार किया। इस समूह में होनहार गायिका प्रतिष्ठा श्रीवास्तव सहित संजय दुबे, सुमंत भार्गव, कामिनी ठाकुर और स्वयं आशुतोष शरीक हुए। संचालन गोविन्द देवलिया ने किया। गौरतलब यह कि आशुतोष लगातार सुगम संगीत के क्षेत्र में सक्रिय है।

'जिफ़लिफ़' में 'जलतरंग'

कला, साहित्य और सिनेमा के ईदगिर्द उठती हिलोरों से एक नया रचनात्मक नाता तैयार करने की ग़रज से शुरू हुआ 'जिफ़लिफ़' का कारवाँ इस दफ़ा छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर पहुँचा। जिफ़लिफ़ यानी ग्रेट इंडियन फिल्म एण्ड लिटरेचर फेस्टीवल जहाँ साहित्य, सिनेमा और कलाओं की दुनिया में काम कर रही तीन पीढ़ियाँ एक साथ शिरकत करती रही हैं। नया, अनूठा, रोचक और उत्तेजक इस बीच खुलासा होता है। रायपुर में 30 मार्च की शाम फेस्टिवल की एक विशेष सभा 'जलतरंग' पर केन्द्रित रही। भारतीय ज्ञान पीठ से प्रकाशित और राष्ट्रीय पुरस्कार के लिए चुने गये संतोष चौबे के इस उपन्यास की कहानी और शिल्प से लेकर उसमें निहित हमारे समय के शोर और संगीत पर बहस तो इस सत्र में हुई ही, दिलचस्प इस उपन्यास का नाट्य रूपांतरण करने वाले सिने पटकथाकार अशोक मिश्र से यह जानना भी कि रंगमंच के लिए 'जलतरंग' उन्हें ज़रूरी क्यों लगा? इस संवाद सत्र में खुद लेखक चौबे और कथाकार-आलोचक मुकेश वर्मा भी शामिल थे। सवालों के जरिये संवाद को रोचक बनाया कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने।

संतोष चौबे, अशोक मिश्र, मुकेश वर्मा और विनय उपाध्याय

मरने के पहले पैदा होना चाहता हूँ

अनूठा सर्जक: प्रियेशदत्त मालवीय

शेष-विशेष

विनय उपाध्याय

कला अगर जीवन का संगीत है, तो उसकी ध्वनियों के आरोह-अवरोह में अनुभूतियों की आहटों को बहुत साफ़तौर सुना जा सकता है। ये आवाज़ें स्वप्न और यथार्थ की जुगलबंदी हैं। अपने समय में लयबद्ध होती, एक आज़ाद उड़ान भरती भीतर और बाहर के फ़ासले को मिटाती हुई.....। दरअसल, यह अन्तर्लय की पुकार है जो कला में सांस भरते किसी भी सर्जक की रूह में उसके अभीष्ट को पा लेने की बेचैनी ही है। सोचने, रचने और किसी सिरे पर अपनी सर्जना को विराम देने के बीच विचार और अनुभूतियों की टकराहट एक ऐसी रहस्यमयी दुनिया के द्वार खोलती है जहाँ लौकिक और अलौकिक के बीच के भेद को जानने-समझने की आकुलता ओर-छोर फैली है। यहाँ रचने की छटपटाहट और आनंद है, तो द्वंद्व और सवाल भी हैं। इन्हीं सबको मथते हुए विचार की कुछ चिन्गारियाँ फूटती हैं। कुछ निष्कर्ष हाथ आते हैं। पहेली-सा जीवन कुछ सार समेटे नई भाषा और भंगिमा में संबोधित होने लगता है।

प्रियेश की सृजनात्मक विकलता के यही आयाम हैं। 'कुछ पाकर खोना है, कुछ खोकर पाना है', जैसे इसी शपथ के आसपास उन्होंने कला के संसार में आँखें खोलीं और अनंत की तरफ़ दौड़ लगा दी। इस रास्ते में बहुत सारा बटोरा और खूब सारा उनसे छूटा भी, लेकिन इस जोड़-घटाने में जो हासिल रहा, वो प्रियेश का निजी संतोष है, उसका अपना प्रिय प्राप्य है।

प्रियेश... पूरा नाम प्रियेश दत्त मालवीय। कला के नए माध्यमों का विलक्षण खोजी। जोश-ए-जुनून की मिसाल जिसकी प्रयोगधर्मिता ने हमेशा नई कौंध जगाई। गुज़िश्ता चार दशकों पर ग़ौर करें, तो वे हैरत जगा देने वाले ऐसे शिल्पी-चित्रकार साबित हुए हैं जिसने हल्लाबोल की तर्ज़ पर भले ही धमाल न किया हो लेकिन दर्शकों और कलाविदों को ज़रूर उकसाया। ख़ामोश तबीयत उनके बहिरंग पर तारी है लेकिन उनके अंतरंग में हलचल मचाती एक दुनिया है जहाँ जिज्ञासा, संशय, सवाल और उनसे आत्मालाप करता एक सर्जक बहुत साफ दिखाई पड़ता है। इस आत्म संवाद से गुजरते हुए प्रियेश ने जो कहा वो क़ाबिल-ए-गौर है- ''मैं मरने के पहले पैदा होना चाहता हूँ''। फिर-फिर उदित होने, आँखें

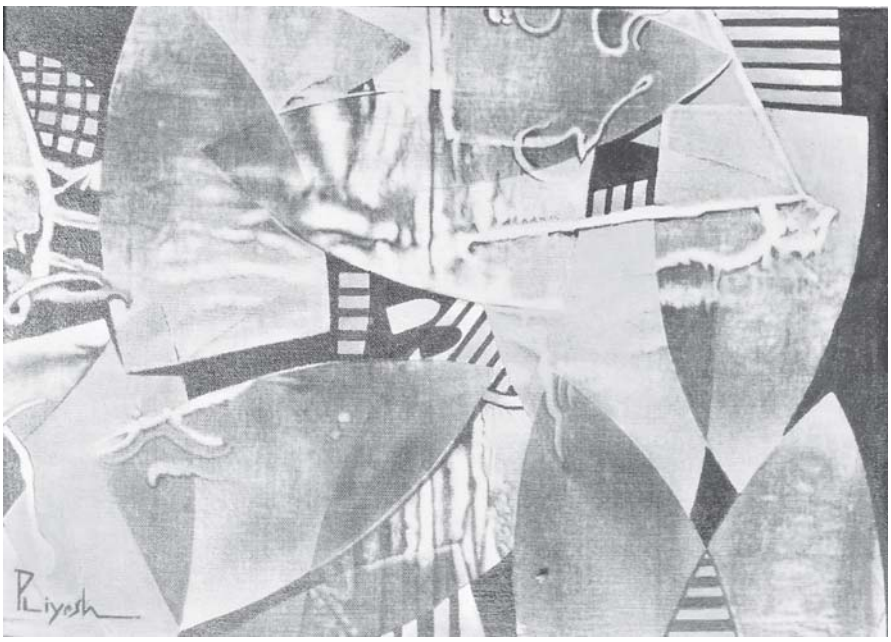

खोलने, आक्षितिज फैले जीवन और जगत को निगाह भर देखने, स्वप्न और यथार्थ से क्रीड़ा करने और अनुभव की आँच में पके अपने निष्कर्षों को बटोर लेने की फ़ितरत ही प्रियेश के 'फिर पैदा' होने की हसरत का सबब हैं। यह जन्म देह का अवतार नहीं, उस परम चेतना को छू लेने की छटपटाहट से भरी इच्छा है जो रंग या आकारों में कई दफ़ा जज़्ब होकर भी प्रियेश के सर्जक से फिसलती रही या प्रियेश को लगातार उसी में रमे रहने को उकसाती रही। बहरहाल।

चालीस बरसों के आसपास फैल गया प्रियेश का कलात्मक पुरूषार्थ अब उस मुकाम पर है जहाँ से अध्यात्म का रास्ता खुलता है। इस डगर पर कदम रखते हुए वे सनातन सूत्र देते हैं–''मैं उस शिवत्व की तलाश में हूँ, जो जीवन के विविध रूपों में अदृश्य होकर भी सत्य और सुंदर है।''

प्रियेश के काम पर मेरी पहली निगाह उनके और मेरे गृह नगर खंडवा में पड़ी थी। चारकोल के पावडर से उन्होंने कुछ आकृतियाँ गढ़ी थीं। वेलवेट के रेशों से बुना उनका काम भी याद है। फिर पेड़–पौधों की जड़ों और आड़ी–टेढ़ी लकड़ियों में उन्होंने जीवन को अलग–तरह से देखा। हरा प्लास्टर और खराद मिलाकर मूर्तियों की सुंदर श्रृंखला तैयार की। यूँ एक मनमौजी में सिरजने का यह सिलसिला बदस्तूर जारी रहा। इसी रौ में एक दिन प्रियेश लगभग चौंका देने वाले अंदाज़ में पेश आए जब उन्होंने अपने केनवास पर धुँए को उतार लिया। अपनी आकृतियों में धुंध की कमनीय और चंचल काया को मनचाहा सहेज कर वे ऐसा प्रयोग करने वाले दुनिया के पहले और अकेले चित्रकार बन गए। एक क़दम फिर नया उठता है– 'बर्न इम्प्रेशन्स' का। ये आकार कपड़े की सलवटों को सँवारने वाली गर्म प्रेस का नतीजा बनें।

दिलचस्प यह कि प्रियेश का कोई भी प्रयोग बेमानी नहीं, कला के मानकों पर सटीक बैठता हुआ सृजन। समय से, मन और आत्मा से संवाद करता हुआ, संवेदनाओं तक उतरता सृजन।

यह यात्रा बाहर से भीतर की है। परिधि से केन्द्र की ओर लौटती हुई। इस अंतराल में जो जागा–कौंधा प्रियेश ने उसे मन की ज़मीन पर उतार लिया। प्रियेष इन्हें सूक्ति कहते हैं। दरहक़ीकत ये सात्विक भाव की उपज हैं। ये इबारतें एक कलाकार के भीतर स्पंदित सच की ताकीद करती हैं।

बर्न इम्प्रेशन्स : गर्म प्रेस और कपड़े की जुगलबंदी में हासिल प्रियेश का सृजन

वनमाली सृजन पीठ

साहित्य, संस्कृति एवं सृजन के लिये

•भोपाल•खण्डवा•बिलासपुर•दिल्ली

साहित्य, संस्कृति एवं सृजन के लिये

सुप्रतिष्ठित कथाकार, शिक्षाविद तथा विचारक स्व. जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' के रचनात्मक योगदान और स्मृति को समर्पित वनमाली सृजन पीठ एक साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा रचनाधर्मी अनुष्ठान है, जो परंपरा तथा आधुनिक आग्रहों के बीच संवाद तैयार करने सतत सक्रिय है। साहित्य तथा कलाओं की विभिन्न विधाओं में हो रही सर्जना को प्रस्तुत करने के साथ ही उसके प्रति लोकरुचि का सम्मानजनक परिवेश निर्मित करना भी पीठ की प्रवृत्तियों में शामिल है। इस आकांक्षा के चलते रचनाधर्मियों से संवाद और विमर्श के सत्रों के अलावा यह सृजन पीठ शोध, अन्वेषण, अध्ययन तथा लेखन के लिए नवोन्मेषी प्रयासों तथा सृजनशील प्रतिभाओं को चिन्हित करने और उन्हें अभिव्यक्ति के यथासंभव अवसर उपलब्ध कराने का काम भी करेगी। बहुलता का आदर और समावेशी रचनात्मक आचरण हमारी गतिशीलता के अभीष्ट हैं।

सक्रियता के आधार बिन्दु

पुस्तकालय तथा अध्ययन केन्द्र की स्थापना • कथा, उपन्यास और आलोचना के साथ ही कविता तथा अन्य साहित्यिक विधाओं पर एकाग्र रचनापाठ एवं संवाद गोष्ठियाँ • स्थानीय तथा प्रवासी साहित्यकार कलाकारों के प्रदर्शन सह व्याख्यान • पुस्तक चर्चाएँ • साहित्य तथा कलाओं के अंतर्संबंधों की पड़ताल • अग्रज और नई पीढ़ी के सर्जकों के बीच विमर्श • चयनित कलाकारों साहित्यकारों के मोनोग्राफ का प्रकाशन • बच्चों की कलात्मक अभिरुचि का प्रोत्साहन • अध्ययन और शोध के अवसर उपलब्ध कराना • उत्कृष्ट सर्जना का सम्मान • पारंपरिक कलारूपों और समकालीन सृजन संवाद का दस्तावेजीकरण • साहित्यिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले शहरों कस्बों में विभिन्न आयोजन • लोक, शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, सुगम संगीत तथा वृन्दगान की प्रस्तुतियाँ • अन्य समानधर्मी संस्थाओं के साथ मिलकर गतिविधियों की साझेदारी।

संपर्क :

वनमाली सृजनपीठ

22, ई-7, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-16

फोन : +91-755-242806

अंतरंग

• गिरीश करनाड • दयाप्रकाश सिन्हा • रमेश दवे • श्रीराम परिहार • इलाशंकर गुहा
• रमाकांत श्रीवास्तव • आलोक चटर्जी • अवधेश वाजपेयी • प्रियेश मालवीय
• गोविन्द गुंजन • प्रेमशंकर शुक्ल • पंकज स्वामी • सुनीता सिंह
• अनीता सक्सेना • सुदीप सोहनी

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र

बनमाली सृजन पीठ
साहित्य, संस्कृति एवं सृजन के लिये
• भोपाल • उत्तराखण्ड • बिलासपुर • दिल्ली

संपर्क - भोपाल-चिकलोद रोड, बंगरसिया चौराहे के पास, भोपाल, फोन : 0755-6766100, 6766104, मो. -9826392428
ई-मेल : tagorekala9@gmail.com, vinay.srujan@gmail.com